विषय-सूची

———

प्रस्तावना

हिन्दी में आधुनिक निबंधों का आरम्भ भारतेन्दु-युग से होता है। इसके पूर्व साहित्य के इस प्रकार-विशेष की रचना का प्रचलन हिन्दी में नहीं था। अतएव आधुनिक निबंध को भारत की किसी पुरानी परम्परा के साथ जोड़ने का प्रयास करना निष्फल है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि हिन्दी के वर्तमान निबंधों का स्रोत पश्चिमी साहित्य है।

अंग्रेजों की राज्यस्थापना के साथ-साथ अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी साहित्य और साहित्यिक रचना के अनेक भेदों का परिचय भारतीयों को प्राप्त हुआ। इसी परिचय के कारण भारतीय कलाकार और हिन्दी के भी अनेक साहित्यकार पश्चिम की साहित्यिक निर्मिति के विभिन्न प्रकार-विशेषों—उपन्यास, कहानी आदि—की रचना की ओर उन्मुख हुए। इसी के साथ-साथ प्रायः भारतेन्दु-युग में हिन्दी के कुछ साहित्यकार निबन्ध लिखने में भी प्रवृत्त हुए। यदि हम एक वाक्य में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि अंग्रेजी की निबंध-रचना, विशेषतः व्यक्तित्व प्रधान निबंधों के संपर्क और प्रभाव से प्रेरणा पाकर भारतेन्दु और उनके मंडल ने हिन्दी के आधुनिक निबंधों का प्रवर्त्तन किया।

यहाँ निबंध का परिचय और उसके भेदक वैशिष्ट्य का संकेत करने के पूर्व निबंध' शब्द के विषय में दो शब्द कह देना आवश्यक है। हिन्दी में निबंध शब्द अंग्रेजी 'एसे' (essay) शब्द के समान-अर्थ में प्रयुक्त है। अंग्रेजी के 'एसे' शब्द का मूल वाच्यार्थ है "प्रयास"—अर्थात् मन में आई हुई अस्पष्ट अथवा स्पष्ट भावना को स्वच्छन्द रीति से व्यक्त करने का प्रयत्न करना है, और उसके हिन्दी पर्याय, 'निबंध' शब्द का अर्थ है—भलीभाँति बँधी हुई, गँठी हुई, गुँथी हुई रचना।

यद्यपि 'निबंध' शब्द अब 'एसे' शब्द का समानार्थक भाषान्तर हो गया है तथापि दोनों शब्दों के वाच्यार्थ से व्यंग्य होनेवाले अर्थों के आश्रय भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। 'कृति की अपूर्ण पर स्वच्छन्द अभिव्यक्ति के प्रयास'—की व्यंजना 'एसे' शब्द से ध्वनित होती है और आकार लघुता के साथ-साथ अभिव्यक्ति-प्रवाह में संघटन और संग्रथन की व्यंजना 'निबंध' से होती है। दोनों शब्दों की वाच्य-व्यंजना में भेद होते हुए भी आज 'निबंध' शब्द का प्रयोग 'एसे' के भाषान्तर-पर्याय के रूप में हो रहा है।

यहाँ यह स्मरण दिला देना अत्यावश्यक है कि स्वतः अंग्रेजी-साहित्य में भी 'एसे' शब्द का प्रयोग किसी एक निश्चित अर्थ में न होकर बड़े व्यापक रूप से हुआ है। कभी तो 'एसे' शब्द का प्रयोग कवित्वपूर्ण रचना के लिए भी हुआ है, जैसे—दि एसे आन मैंन, और कभी गंभीर एवं वैज्ञानिक शैली में लिखित विस्तृत ग्रंथ, जैसे 'लॉक्स' एसे ऑान ह्यूमन अण्डर स्टैंडिंग' में भी 'एसे' व्यवहृत हुआ है। इन प्रयोगों के कारण निबंध की लघु आकृति और गद्यमयता उसके अनिवार्य गुण-धर्म नहीं रह जाते।

इस भाँति फ्रांसीसी के आदि निबन्ध लेखक मॉन्टेन की अनुभूतिमुखर, कल्पना-रंजित, स्वच्छंद एवं आत्मीयतोद्बोधक सरल रचनाएँ भी 'एसे' हैं तथा अंग्रेजी के आदि निबंध लेखक वेकन के लेख भी निबन्ध कहे जाते हैं जिनकी शैली में विषय-विवेचन गुरु गंभीर है, अभिव्यक्तिधारा बुद्धिवैभव और चिन्तन-वैदुष्य से गहन है। इसी भाँति विभिन्न विषयों पर सामान्य वर्णनात्मक या निरूपणात्मक शैली में लिखे गए लेखों को भी 'एसे' या निबंध कह दिया गया है।

एक ओर तो 'निबंध' शब्द का प्रयोग इस भाँति अव्यवस्थित और अनिश्चित अर्थ में हुआ है, दूसरी ओर सहित्य-रचना के एक विशिष्ट प्रकार के लिए भी 'निबंध' शब्द व्यवहृत होता रहा है। ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि पोप या लॉक की कृतियों के समान रचनाओं

के लिए 'एसे' का प्रयोग सर्व-साधारण नहीं है। वे विशेष प्रयोग हैं। उन विशेष-प्रयोगों को छोड़कर सामान्यतः 'निबंध' शब्द के प्रयोग दो अर्थों में होते हैं—एक सामान्य अर्थ, दूसरा विशिष्ट अर्थ।

सामान्य अर्थवाले 'निबंध' के अन्तर्गत साहित्यिक 'निबंध' एवं विषय प्रतिपादक या विषय निरूपणात्मक—सभी प्रकार की कृतियाँ आ जाती हैं। इनकी विशेषता मुख्यतः इनका लघु आकार और लेखन-शैली है। ऐसे लघुलेख—जिनमें वैज्ञानिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक प्रभृति विषयों का विवेचन, प्रतिपादन, निरूपण आदि रहता है—'निबंध' शब्द से सामान्यतः अभिहित होते हैं। इनका विवेचन या निरूपण शुद्धरूप से विषय-प्रधान होता है। पर निबंध शब्द का यह प्रयोग श्लथ एवं अनिर्णीतार्थ-बोधक है। यह प्रयोग साहित्यिक या साहित्यशास्त्रीय नहीं है, गौण है।

विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त 'निबंध' शब्द ही वस्तुतः उक्त शब्द का साहित्यिक एवं मुख्य अर्थ है। इन साहित्यिक निबंधों की सर्वप्रमुख विशेषता है—इनमें विषयी की अनुभूति-जन्य रागात्मकता। पर यह रागात्मकता कहीं तो विषय-प्रतिपादन को आवृत करके स्वयं अत्यंत प्रभावशाली ढंग से मुखर हो उठती है और कहीं विषय-प्रतिपादन के साथ-साथ वहती हुई विषयनिष्ठ अनुभूतियों का धूपछाँही व्यक्तित्व घोषित करती है। अतः साहित्यिक निबंधों की इन्हीं विशेषताओं के कारण उन्हें हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—विषय-प्रधान (आब्जेक्टिव) निबंध और विषयिप्रधान (सब्जेक्टिव या पर्सनल) निबंध।

विषय-प्रधान निबंध की मुख्य विशेषता है उसमें विषय-प्रतिपादन की प्रधानता जो आरंभ से अन्त तक बनी रहती है। इसमें लेखक का व्यक्तित्व यद्यपि साहित्य के अन्य रचना-प्रकारों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप से उसकी कृति में प्रतिबिम्बित होता है तथापि विषय का तटस्थ चिंतन, विवेचन और प्रतिपादन पर्यालोचनात्मक ढंग से होता है। निबंध के आकार

की लघुता इसमें भी प्रायः विवेच्य विषय के अनुसार रहती है और साथ ही साथ आंशिक अपूर्णता भी रहती है। एक ओर जहाँ विषय विवेचन तर्क-पुष्ट, क्रम-संयुक्त, विवेक-संवलित तथा विचार-गर्भित होता है वहीं दूसरी ओर लेखक की शैली-गत प्रेषणीयता, संवेदनशीलता, भावोद्बोधकता आदि में उसके व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप झलकती रहती है। आचार्य शुक्ल के निबंधों को इस वर्ग के आदर्श निबंध कह सकते हैं। निबंध के संबंध में विचार करते हुए उन्होंने निबंध का जो परिचय दिया है उसके अनुसार गुण-धर्म शुक्ल जी के निबंधों में पूर्णतः वर्त्तमान हैं। उन्होंने कहा है—"आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबंध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो।"

इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने आगे बताया है—"संसार की हर एक बात और सब बातों से संबद्ध है। अपने-अपने मानसिक संघटन के अनुसार किसी का मन किसी संबंध-सूत्र पर दौड़ता है और किसी का किसी पर। ये संबंध-सूत्र एक दूसरे से नथे हुए, पत्तों के भीतर नसों के समान चारों ओर एक जाल के रूप में फैले हुए हैं। तत्व-चिंतक या दार्शनिक अपने व्यापक सिद्धांतों के प्रतिपादन के लिए उपयोगी, कुछ संबंध-सूत्रों को पकड़ कर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्यौरों में कहीं नहीं फँसता। पर निबंध-लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छंद गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ संबंधी व्यक्तिगत विशेषता है। अर्थ-संबंध-सूत्रों की टेढ़ी-मेढ़ी रेखायें ही भिन्न-भिन्न लेखकों का दृष्टिपथ निर्दिष्ट करती हैं।" आगे पुनः वे कहते हैं—"एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी संबंध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। इसी का नाम है एक ही बात को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखना। व्यक्तिगत विशेषता का मूल आधार यही है।')

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के निबंधों में किसी

विवेच्य या प्रतिपाद्य विषय का बौद्धिक विवेचन या प्रतिपादन इस ढंग से होता है जिसमें प्रमुख संबंध सूत्र को लेकर आगे बढ़ता हुआ लेखक का हृदय अपनी रुचि के अनुकूल मार्मिक या भावात्मक स्थलों पर पहुँच कर अपने प्रतिपाद्य तक पहुँचने के सीधे और गतिमय मार्ग में इधर-उधर रमता हुआ आगे बढ़ता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस वर्ग के निबन्ध में भी आकार-लघुता और थोड़ा बहुत अधूरापन प्रायः रहता है।

अनेक दृष्टियों से विषय-प्रधान साहित्यिक निबंध के यद्यपि अनेक भेद हो सकते हैं तथापि सामान्यतः तीन भेदों में उन्हें विभाजित किया जा सकता है—भावात्मक, विवेचनात्मक और वर्णनात्मक।

विषय-प्रधान भावात्मक निबन्ध का लेखक अपनी भावुकतापूर्ण, मर्मस्पर्शी सजीव भाषाशैली और भावानुकूल उसके उतार-चढ़ाव की सहायता से पाठक को पर्याप्त प्रभावित करता है। लेखक की अनुभूति-तन्मयता उसके रागात्मक कथन को प्रभावशाली बनाती है और उसकी सत्यता पर बल देती है। वस्तु और व्यक्ति, दोनों की धूपछाँही अभिव्यक्ति रचना को आकर्षक और प्रभावात्मक बनाती हैं। सरदार पूर्णसिंह का निबंध प्रस्तुत संकलन में इस वर्ग का अच्छा उदाहरण है।

विवेचनात्मक निबंध में विषय का विवेचन या प्रतिपादन तर्कपुष्ट बुद्धि-विवेक से किया जाता है। लेखक के व्यक्तित्व की छाप उसकी विवेचन-दृष्टि, रुचि-अरुचि एवं स्व-सम्मत सिद्धान्त के प्रतिपादन में दिखाई पड़ती है। पर साथ ही उसकी प्रतिपादन और विवेचन की शैली युक्ति-युक्त, तर्क-पोषित तथा विचार-गर्भित बनकर ही व्यवस्थित रूप से सामने आती है। ऐसे निबंध की शैली चिन्तन-गाम्भीर्य और सूक्ष्म-निरीक्षण-संपन्न होकर भी परिष्कृत, सुस्पष्ट और बोधगम्य होती है। साहित्यिक निबंध से इतर सामान्य विवेचनात्मक निबंध की रचना में लेखक की कृति और शैली, भाव और राग को उद्‌बुद्ध नहीं कर पाती—सीधे-सीधे वस्तु को लेकर बुद्धिबल से आगे बढ़ती है और साहित्यिक विवेचनात्मक निबंध का लेखक

रागात्मक वृत्तियों का उद्बोधन द्वारा पाठक को आत्मीय बनाकर अपनी प्रभावमयी संवेदनशीलता से तीव्र बना देता है। 'ईर्ष्या', 'साहित्य और राजनीति' आदि इस संग्रह में इस वर्ग के निबन्ध हैं।

लेखक के व्यक्तित्व और उसकी अनुभूति से अनुप्राणित वस्तु, घटना या व्यक्ति का वर्णन करनेवाला साहित्यिक निबंध वर्णनात्मक कहा जा सकता है। 'पर्वत पुत्र' में महादेवी का रेखा-चित्रात्मक वर्णन, 'एक चरित्र' में कथात्मक वर्णन अथवा 'स्वर्गीय प्रो० पूर्णसिंह' में संस्मरणात्मक वर्णन इस कोटि के अन्तर्गत लिये जा सकते हैं। द्विवेदी जी की रचना 'गोपियों की भगवद्भक्ति' भी इस प्रकार के अन्तर्भूत होती है।

साहित्यिक निबंधों में भी दूसरा वर्ग—विषयिप्रधान (वस्तुप्रधान या आत्मानुभूतिप्रधान अथवा सबजेक्टिव या पर्सनल) निबंध अधिक रागात्मक होता है। क्योंकि कलाकार की स्वच्छन्द रागवृत्तियों का बंधनहीन विलास वहाँ दिखाई पड़ता है। गद्य-रचना के नियमों—नियंत्रणों से अपरिचालित होकर भी मन और हृदय की चटुल लहरियों के साथ वह उद्वेलित होता चलता है। मानव की भावमयी प्रतिभा से आकलित मानवीय रागवृत्तियों की सहचरी बनकर कलाकार को भाव-कवलित तरल प्रज्ञा उसकी रचना में प्रकाशित होती रहती है। आकस्मिक रूप में या अनायास प्राप्त किसी प्रेरणा से अनुप्राणित कोई घटना, कोई भावोदय, कोई अनुभूति, कोई प्रसंग, कोई समाचार, कोई दृश्य लेखक के भाव-प्रवण अन्तःकरण में विचार की चेतना उद्बुद्ध कर देता है और इस प्रकार विषयिप्रधान निबंध का उपादान और उपकरण सक्रिय होकर साकार होने का प्रयास करने लगते हैं।

व्यक्तित्व की छाप और व्यक्तिगत अनुभूति की संवेदनशीलता ही इस प्रकार के निबंध की सर्व-प्रमुखता है। लेख्य निबंध की सैद्धान्तिक संगति और युक्ति या विषय का महत्व इस प्रकार के निबंधों में नहीं रहता। निबंध की पंक्तियों में लेखक की आत्मानुभूति और तज्जन्य व्यक्तित्व

कितना मर्मस्पर्शी, प्रभावशाली और संवेदनशील है—यही दृष्टि प्रमुख रहती है। अपनी दृष्टि, आस्था या विश्वास से दूसरे को प्रभावित कर अपना समर्थक बनाने की अपेक्षा इस वर्ग के निबंधकार का प्रयास अपनी ठीक-ठीक स्थिति को प्रकट करने, अपना भीतर और बाहर खोलकर अपने पाठक के सामने निःसंकोच रीति से, आत्मीयता पूर्ण ढंग से प्रकट कर देने की ओर उन्मुख रहता है। ऊपर वर्णित घटना, भाव अनुभूति, प्रसङ्ग, दृश्य आदि के कारण उसके अन्तर्जगत् में, भावसृष्टि में क्या क्रिया-प्रतिक्रिया होती है, इसे वह प्रकट कर देता है। उसकी अभिव्यक्ति जितनी ही संवेदनशील तथा अनुभूति-प्रवण होगी—उसका भावात्मक व्यक्तित्व उतना ही अधिक प्रभावशाली होगा। अतः विषयिप्रधान प्रगीत कविता के समान निबंध में भी संवेदनशील भावाभिव्यक्ति की सप्राणता अपेक्षित होती है। विषय अत्यन्त साधारण या कभी-कभी सामान्यतः उपेक्षणीय भी हो सकते हैं, पर लेखक के व्यक्तित्व की भावप्रवण अभिव्यक्ति उसे धार्मिक और मनोरम बना देती है।

विषयि-प्रधान निबंध का लेखक अपनी भाव-लहरियों के साथ उन्मुख होकर उद्वेलन करता चलता है। फलतः उसका रचना-शिल्प किसी निर्धारित रचना-सरणि का अनुगमन करने में बाध्य नहीं होता। उसकी भावना उसे कब और किधर बहा ले जायगी, कल्पना कहाँ उड़ा ले जायगी, भावमयी चिन्तनधारा किस ओर बह पड़ेगी, रागात्मक आसञ्जन किधर प्रेरित कर देगा—इसका कुछ निश्चय नहीं रहता। विषय के किस सम्बन्धसूत्र को लेकर वह किधर चला जायगा—कुछ निर्धारित नहीं रहता। और यह सब कुछ निबंधकार अपने पाठक को इस प्रकार सुनाता है, जैसे लेखक के लिए पाठक ऐसा आत्मीय, ऐसा निकट है, जिससे न तो कुछ गोपनीय है और न सब कुछ सुना देने में संकोच है। श्रोता न तो ऊबेगा, न थकेगा और न चिढ़ेगा। वह पूर्ण मनोयोग, पूरी सहानुभूति एवं पूर्ण उत्सुकता के साथ सब कुछ सुनेगा, सुने बिना नहीं मानेगा।

यहीं उसकी कला की परीक्षा होती है। उसके कथन की शैली ऐसी हो[illegible] चाहिए, उसकी भावाभिव्यक्ति और कथन-पथ में बहकना-भटकना ऐ[illegible]ना चाहिए जो श्रोता को आत्मीय, उत्सुक, सहानुभूति युक्त और अनुरक्त बनाए रहे। जिस निबंधकार में यह शक्ति है—वह सफल होगा—अन्यथा उसकी कला पथ में ही भटकती रहेगी। 'अशोक के फूल' इस प्रकार का उत्कृष्ट निबंध है, जहाँ निबंधकार 'विषयि-प्रधान' समस्त उपकरणों का उपयोग करने में पूर्ण सफल है।

ऐसे निबंधों में व्यंग्य विनोद, आलोचनात्मक व्यंग्य, उक्तिवक्रता आदि का पुट भी प्रायः दिखाई पड़ जाया करता है। हास्य विनोद और व्यंग्य की सहायता से आलोचना भी मनोरंजक हो उठती है। कथा-प्रसंग, रोचक कथा, खण्ड या आकर्षक वर्णनों द्वारा निबंध की मनोहारिता बहुधा बढ़ा दी जाती है। कभी-कभी निरुद्देश्य काल्पनिकता और [illegible]वपूर्ण मनोरंजकता के स्थान पर उपदेशात्मकता या नैतिक शिक्षा का भी प्रयास दिखाई देने से हिन्दी निबंध, यह कहा जा सकता है, आरम्भ से ही प्रायः सोद्देश्य रहा है।

विषय-प्रधान निबंधों की रचना बहुत-कुछ कथात्मक-सी जान पड़ती है। कहानी जैसी रोचकता या वर्णनात्मकता ऐसे निबंधों को विशेष आकर्षकता प्रदान करती है। निबंधकार की आत्मीयता श्रोता को अपने अत्यन्त निकट कर लेती है और निबंध, ऐसा लगता है जैसा वक्ता कहानी सुना रहा हो या जीवन की किसी घटना अथवा परिस्थिति का निकट बन्धु के समीप वर्णन कर रहा हो। आकार छोटा होने के कारण निबन्धकार की बात अपूर्ण या अधूरी सी जान पड़ती है पर इससे आलापगत आकर्षकता बढ़ती है।

कुछ ऐसे सामान्य गुण हैं जो दोनों ही प्रकार के निबंधों में अन्य साहित्यिक रचना-प्रकारों की अपेक्षा विशेषता उत्पन्न करते हैं। निबंध की अभिव्यक्ति-शैली पाठक और लेखक के बीच ऐसी आत्मीयता स्थापित

करती है जिसके कारण व्यवहारिक दिखावा या औपचारिकता तनिक भी नहीं रह जाती। ऐसा जान पड़ता है जैसे लेखक ने निकटतम प्रिय कर के सामने अपने सभी अच्छे-बुरे विचार खोल करके रख दे रहा है। यह आत्मीयता विषयि-प्रधान निबंध की सर्वप्रमुख विशेषता है।

ऊपर कई बार चर्चा की जा चुकी है कि निबंध की आकृति में अपेक्षाकृत लघुता होती है। और बहुत कुछ इस लघुता के कारण भी प्रतिपाद्य विषय अपूर्ण या अधूरा रहता है। यद्यपि कभी-कभी बड़े लम्बे, विशेषतः विषय-प्रधान, निबंध लिख दिये जाते हैं और उन्हें निबन्ध के वर्ग से बहिष्कृत भी नहीं किया जा सकता तथापि सामान्यतः निबन्धों का छोटा और अधूरा होना उनकी विशेष प्रकृति है।

निबन्ध की भावमग्नता और विषय-प्रधान निबन्धों में भी व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति सभी प्रकार के निबन्धों का, जिन्हें हम उक्त कोटि के निबंधों में गिन सकते हैं कदाचित् अनिवार्य गुण है। निबन्धकार की प्रज्ञा और भावना, दोनों ही एक दूसरे के सहायक और पूरक होकर विषय को आगे बढ़ाते हैं। विषयि-प्रधान निबंध में भाव-पक्ष की प्रमुखता होती है और प्रज्ञा-पक्ष सहायक होता है, तथा विषय-प्रधान निबन्धों में वर्ण्य विषय की प्रज्ञा-समन्वित अभिव्यक्ति मुख्य होती है और भाव पक्ष अपनी समस्त अनुभूति-तीव्रता के साथ वक्तव्य को अधिक मार्मिक और हृदयस्पर्शी बना देता है। भाव जगत् में, समय समय पर विचरण करता हुआ विषयप्रधान निबंध का लेखक अपने मुख्य सम्बन्ध सूत्र को प्रज्ञा-पथ से ओझल नहीं होने देता। उसके विचार भाव-संवलित होने पर भी सुव्यवस्थित और विषय-प्रतिपादन में सतर्क रहते हैं।

इस प्रकार विषयप्रधान निबंधों में व्यक्तित्व की व्यञ्जना निबन्धकार की बुद्धिपूर्ण उक्ति का अनुगमन और पोषण करती चलती है। किन्तु विषयि-प्रधान निबंधो में व्यक्तित्व का अभिव्यञ्जन सभी प्रकार की विधि-

निषेध-जन्य शृंखलाओं से मुक्त होता है। निबन्धकार की अभिव्यक्ति मन की तरङ्गों के साथ-साथ विलास करने लगती है।

विषयी की प्रधानता होने के कारण वर्ण्य विषय का महत्त्व तो कुछ नहीं रह जाता, विषयी की अभिव्यक्ति ऐसी आत्मीय रीति से स्वच्छंद विहार करती हुई चलती है। जिससे लेखक अपने अन्तरतम की बहक या उड़ान प्रगट कर देता है और इसी कारण ऐसे निबंध किसी भी विषय पर लिखे जा सकते हैं तथा भावुक निबन्धकार अपने प्रतिपादन में एक सूत्र से बहक कर दूसरे और दूसरे बहक कर तीसरे पर विचरण करता हुआ कहीं से कहीं पहुँच जाता है, और अपनी बात अतीव रोचकता के साथ सुना ही देता है।

इसी कारण दो बातें विषयि-प्रधान निबंधों में देखी जा सकती हैं, एक तो यह कि उसकी रचना-शैली का कोई निश्चित स्वरूप नहीं निर्धारित किया जा सकता और दूसरी बात यह कि उसका गद्य मनोहारी और आकर्षक होना चाहिये। व्यक्तित्व की अनुभूति अपनी समस्त रुचिरता से इस रचना-शैली को दीप्त करती चले।

फलतः विषयि-प्रधान निबंधों का कोई स्पष्ट वर्गीकरण नहीं हो सकता। विषय की दृष्टि से उसके न जाने कितने भेद हो सकते हैं पर वर्णन-शैली की दृष्टि से कुछ प्रमुख वर्गों का संकेतमात्र किया जा सकता है—कथात्मक या वर्णनात्मक, चिन्तनात्मक या विचारात्मक, विश्लेषणात्मक आदि अनेक भेद हो सकते हैं।

सामान्यतः निबंध की यद्यपि कोई एक निश्चित परिभाषा निर्धारित नहीं हुई है, यूरप के निबंधकारों और आलोचकों ने अनेक परिचयात्मक परिभाषाएँ बताने का प्रयास किया है तथापि किसी एक सर्वसम्मत निर्णय पर वे नहीं पहुँच सके हैं। इस रचना-प्रकार के परिचय-संकेत के लिए इतना कह कर संकेत किया जा सकता है कि गद्य-रचना के उस प्रकार को

हम निबन्ध समझते हैं जिसमें विवेच्य का विस्तार लघु होता है, जिसका प्रतिपादन स्वच्छन्द और आत्मीयतापूर्ण ढंग से किया जाता है। लेखक के व्यक्तित्व का रचना में झलकते रहना मुख्य गुण है। विस्तार की लघुता से अधूरापन रहता है और विषय का प्रतिपादन प्रायः परिपूर्ण न होकर या तो अनुभूति-परक होता है अथवा विश्लेषण-विवेचन से संवलित। कभी वह विषय की प्रधानता की ओर उन्मुख होता है और कभी मन की उड़ान के साथ उड़ता हुआ, श्रोता और पाठक के हृदयों को एकानुभूति में आबद्ध कर देता है। निबन्ध वस्तुतः गद्य-साहित्य की उपचारहीन विशिष्ट और उत्कृष्ट रचना है।

करुणापति त्रिपाठी

निवेदन—

प्रस्तुत संकलन में रचनाओं का क्रम ऐतिहासिक न होकर अध्ययन-अध्यापन की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति अनुकूल है। रचनाएँ ख्याति-लब्ध निबन्धकारों की ही हों और प्रतिनिधि-भूत हों इस ओर अधिक सावधान रहने की चेष्टा की गई है। स्थानाभाव के कारण अनेक उत्तमकोटि के निबन्धकारों की कृतियाँ संकलित न की जा सकीं, फिर भी जितना संकलन हुआ है वह निबन्ध-रचना का प्रतिनिधित्व कर सके, इसका प्रयास किया गया है।

बहस की बात

सियारामशरण गुप्त

बहुत गम्भीर समस्या थी । एक सज्जन कह रहे थे, यह घर पूर्व दिशा में है, दूसरे सज्जन का कहना था, ऐसा नहीं हो सकता । अपने गले के जोर से उस घर को उठाकर ठेट पश्चिम में रख देने की इच्छा उनकी थी । एक अंगरेज कवि के पूर्व और पश्चिम की तरह इन दोनों का दिक्-विपर्यय किसी एक दूसरे से मिलना ही न चाहता था । अपने मध्यकेन्द्र को बहुत पीछे छोड़कर बात गरमागरमी और तेजी से आगे बढ़ रही थी । ऐसी स्थिति में एक का मुक्का और दूसरे का सिर तो आपस में मिल सकता था! । परन्तु उनके मत नहीं । वे दक्षिणी और उत्तरी ध्रुवों की अपेक्षा भी दूर होते जा रहे थे । ऐसे विकट प्रसंग में उस घर का प्राण-संकट टाल कर एक तीसरे सज्जन ने बताया कि यह घर आपके यहाँ से पूर्व है, आपके यहाँ से पश्चिम । अतएव सही हैं तो आप दोनों और गलत हैं तो आप दोनों । परिणाम यह हुआ कि इस तरह न तो पूर्व को पश्चिम में जाना पड़ा और न पश्चिम को पूर्व में, चरम परिपाक के बिना ही वह बहस यहीं शान्त हो गई—कम से कम ऊपर से तो हो ही गई ।

डर मुझे यह है कि अपने पाठक को मैंने नाराज कर दिया। मैं झूठ बोला इसकी तो कोई बात नहीं। झूठ बोलना तक मुझे नहीं आया, इसकी शिकायत अवश्य की जायगी। बहस कभी बिना बात की बात पर चल पड़ती है, यह मान लिया जायगा। परन्तु क्या ऐसा भी कोई हो सकता है, जो पूर्व और पश्चिम जैसे स्वयं प्रकाशित विषय को लेकर मरने-मारने को तैयार था—इस पर फिर एक नई बहस उठ खड़ी होगी। उठ खड़ी हो, मैं अपनी बात से पीछे हटना नहीं चाहता।

यह ठीक है कि पूर्व और पश्चिम का भेद सुस्पष्ट करने के लिए किसी ने दिन में ही सूर्य की यह मशाल जला रक्खी है। पर उसी के साथ उतना ही ठीक क्या यह नहीं है कि उसी के इस मशाल की पीठ पर अन्धकार भी प्रतिष्ठित कर रखा है। दिन हो तो उसके साथ रात है और रात हो तो उसके साथ दिन। उत्तर है तो दक्षिण भी होगा। इस तरह दो का यह उत्तर-प्रतिउत्तर, यह तर्क-वितर्क, अनादि काल से चला आता है। तब फिर पूर्व और पश्चिम के लिए पूर्वोक्त सज्जनों का इस प्रकार झगड़ पड़ना कुछ अनहोनी बात नहीं। देखा जाय तो हम में कदाचित् ही कोई निकले जो इस पूर्व और पश्चिम के झगड़े में ठीक इसी प्रकार लिप्त न हो। यह दूसरी बात है कि अपनी भिन्न-भिन्न बोलियों में इन्हें हम और कुछ कहते हों। मिट्टी हो, कंकड़ हो, पत्थर हो, कुछ क्यों न हो—इससे विग्रह की प्राण-प्रतिष्ठा उसी में कर दी जाती है। कैसे की जाती है, यह बताने के लिए अनेक आचार्यों ने बड़े-बड़े ग्रन्थ रच डाले हैं। इसकी शिक्षा के लिए हमारे विश्वविद्यालय भी कम सक्रिय नहीं। इस अचिर जीवन का केवल आधार ही लेकर अपने प्रमाणपत्र के साथ वे हमें छुट्टी दे देते हैं कि अब तुम किसी भी राज-दरबार में जाकर पूर्व को पश्चिम घोषित कर सकते हो और पश्चिम को पूर्व। न्यायालयों में जितने भी मामले पहुँचते हैं उनमें अधिकांश इन सम्मुख विरोधी दो दिशाओं के विवाद के ही नए-नए आदर्श अथवा साँचे हैं।

न्यायालय ही नहीं, हमारा यह महाभारत रात-दिन सर्वत्र चला करता है। इसके लिए अठारह अक्षौहिणी की आवश्यकता नहीं पड़ती। एक और एक दो, बस इतनी ही संख्या पर्याप्त है। कोई दूसरा न हो तो अकेले अपने आप भी हम यह कसरत कर सकते हैं। परन्तु रूखी रोटी की तरह अकेले-अकेले की यह कसरत हमारे मानसिक आहार में अनाहार से अधिक नहीं। कदाचित् इसी कारण कालकोठरी की सजा वर्तमान समय की एक बहुत बड़ी सजा है। तो हाँ, जहाँ हम दो एकत्र हुए, एक कहता है—'यह बात ऐसी है', दूसरा तुरन्त उत्तर देता है—'नहीं, यह बात ऐसी हो नहीं सकती!' दूसरे का यह उत्तर इतना स्वाभाविक, अतः तर्कसंगत है कि कुछ प्रसंग जाने-समझे बिना हम भी उसे अपना मत दे सकते हैं। भला बताइए, वैसा हो कैसे सकता है जब कि वैसा हो सकने की बात पहले ही कोई कर चुका हो।

यह तर्क या बहस प्रारम्भ हुई नहीं कि एक बड़ा जन-समूह तुरन्त हमारे आस-पास इकट्ठा हो जाता है। किसके पैर में कितनी तेजी है, इसके आगे की बात शिष्ट पाठक को सहन न होगी, इसी से अस्पृश्य समझ कर यहीं छोड़ी जाती है।

परन्तु इस तर्क-प्रसंग को मेरे अस्पृश्य समझ लेने से इसका कुछ भी नहीं बिगड़ता। संसार के अधिकांश युद्धों का उद्‌गम इसी के भीतर मिलेगा। वे होते ही रहते हैं। वहाँ आरम्भ में एक कहता है—'ऐसा'—दूसरा तुरन्त उत्तर देता है—'ऐसा हर्गिज नहीं।' बस इसी के बाद सेना, सैनिक, सेनापति और उनकी तलवार, तोप और गोले। संसार के इतिहास का सबसे रोचक अध्याय यही है।

तो हाँ, जब किसी एक को अस्पृश्य कहकर छोड़ दिया गया है, तब किसी दूसरे को ब्राह्मण कहना ही पड़ेगा। किन्तु बहुत शुद्धाचारी और तपस्वी होने के कारण यह ब्राह्मण तर्क सबके लिए जान नहीं पड़ता। बात करने भी बैठे और डरते भी रहें कि कहीं किसी को चोट न लग जाय तो

भला यह भी कोई बात हुई ! सच पूछो तो तर्क जन्म से ही क्षत्रिय है। इसका काम ही मारना, मरना और फिर-फिर जी उठना है। इक्कीस-इक्कीस बार इसे निर्वंश ही क्यों न कर दो, फिर भी जब देखो, तब इसका वह तेज। साहित्यिक ने व्यंग्य और व्यञ्जना के आवरण में कोमल करने—इसे वैश्य-वर्ण में लाने का यत्न किया है। परन्तु वहाँ भी इसका जन्मगत जातीय गुण छिपा नहीं रहता।

पर अब कुछ सावधानी की आवश्यकता है, नहीं तो यह आरोप किया जायगा कि लेखक को बहस में मुँह की खानी पड़ी है, इससे छिपे-छिपे वह तर्क की निन्दा कर रहा है। इस पर मेरा कहना यह है कि जीभ राम का नाम लेने में ही हार सकती है, बहस अथवा तर्क करने में नहीं।

वास्तव में जीभ की महिमा है ही ऐसी। विधाता ने हमें आँख, कान, हाथ, पैर ये सब दो दो की संख्या में दिये हैं, तब प्रश्न उठता है, जीभ ही उसने हमें एक क्यों दी ? नाक भी उसने एक ही दी थी। जान पड़ता है बाद में उसे इसमें अपनी भूल मालूम हुई। इसी से इसके बीचोबीच उसने एक दीवार खड़ी करके एक को दो में बदल दिया है। चाहता तो वह जीभ के लिए भी किसी ऐसे ही संशोधन का प्रबन्ध कर सकता था। परन्तु उसने ऐसा किया नहीं। मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी पर भी यह प्रयोग करने की आवश्यकता उसने नहीं समझी। तब यह क्यों न माना जाय कि जीभ के एक रखने में उसका कुछ विशेष हेतु था ? इसे उसकी कोरी भूल समझने से काम न चलेगा।

निश्चय ही जीभ का दो होना ठीक न होता। इस समय साँप के द्विजिह्व होने की बात कहकर मैं अपना समर्थन नहीं करना चाहता। यह कहकर भी नहीं कि उस अवस्था में खाद्य-पदार्थ और भी दुर्लभ हो जाते। मैं जो कहना चाहता हूँ, वह यह है कि जीभ की संख्या में दो होने पर तर्क अथवा बहस करने के लिए किसी को किसी अन्य की आवश्यकता न रहती। उस समय कोई भी हिमालय की निर्जन कन्दराओं में जाकर

किसी दूसरे की सहायता के बिना ही अपना काम चला लेता। मनुष्य की एक जीभ कहती—'मीठा', दूसरी तुरन्त प्रत्युत्तर करती—नहीं, कड़ुआ'। इस प्रकार अपने आपमें ही आनन्द रस के दोनों स्वाद पाकर मनुष्य में जिस अनपेक्षित स्वार्थपरता का उदय होता, उससे क्या हमारे इस बहु-विचित्र संसार के असंख्य टुकड़े न हो जाते? दूसरों का हित करने के लिए उस समय न तो हमें किसी सभा में उपस्थित होने की आवश्यकता पड़ती औ न किसी दूसरे का ग्रन्थ पढ़कर उसकी समालोचना लिखने की। न प्रजा के चीत्कार का अस्तित्व ही होता, न राजा की एकान्त काल-कोठरी का। सचमुच ही यह बहुत बुरा होता। इसी सबके कारण तो हमारा कर्म-मुखरित संसार इतना प्रिय और मधुर है!

तर्क अथवा बहस ही वह वस्तु है, जो हमारे मन में, अनजाने ही सही, यह बोध उत्पन्न करती है कि हमें छोड़कर भी किसी और को होना चाहिए। यह और कोई ऐसा है जिसके बिना हमारा जीवन नीरस हो जाता है। ऊपर से उस पर हम प्रहार ही क्यों न करें, भीतर से प्यार तो उसे करते ही हैं। मनुष्य में वाणी ही उसका सबसे बड़ा वैभव है। आँख? वह हमसे अधिक गीध में है। कान घोड़े और गधे के भी हमसे बहुत बड़े हैं। कुत्ते की घ्राण शक्ति की बराबरी तो हम कर ही नहीं सकते। दौड़ने की बात आती है, तब मृग का पशुत्व भूलकर, उसी की काल्पनिक समता में गौरव का अनुभव करना पड़ता है। जो बात कहीं दूसरे में नहीं मिलती वह है हमारी वाणी। अतएव जब हम किसी की बात सुनते हैं तो स्वभावतः हमें यह अनुभूति होती है कि यह अपने उसी बड़प्पन की घोषणा कर रहा है उसका महत्व खण्डित करके अपना महत्व स्थापित कर देना ही बहस की मनोवृत्ति का कारण है। इसका काम है, महत्वाकांक्षा की वृद्धि करके हमें और भी बड़ा कर देना। बैलों में जब यह वृत्ति पैदा होती है तो वे सींग चला देने के सिवा किसी दूसरे ढंग की बहस नहीं करते। मनुष्य की जीभ बिना सींग के सींग तो चला ही लेती है, और भी उसके

लिए बहुत-सी बातें आसान हैं। सच पूछो तो दूसरे प्राणियों में विधाता का जिह्वादान उसके बड़े से बड़े अपव्ययों में से एक है।

परन्तु अब और कुछ लिखने को जी नहीं करता। जीभ की स्तुति जीभ चलाकर ही की जा सकती है, लेखनी चलाकर नहीं। इन बातों को काटकर कुछ कहनेवाला कोई दूसरा होता तब भी कुछ बात थी। यदि किसी दूसरे ने यह सब कहा होता तो वह कठिन काम मैं स्वयं स्वीकार कर लेता। पर अब तो बाहर जाकर ही जीभ की यह प्यास मिट सकेगी। मैंने जिसे पूर्व कह दिया है, उसे पूर्व ही कहता जाऊँ, तब यह असम्भव है कि उसे पश्चिम कहनेवाला कोई न मिल सके। हम दो के बीच में भी कोई ऐसा आ पड़ा, जो मेरे पूर्व को पूर्व रहने दे और दूसरे के पश्चिम को पश्चिम, तो भी हानि नहीं है। चतुर माली द्वारा कुछ काट छीलकर एक में बाँधी गई भिन्न-भिन्न वृक्षों की दो शाखाएँ एकरस हो सकती हैं और हो जाती हैं, पर मेरे में मेरा फूल खिलेगा, दूसरे में दूसरे का इसमें अन्तर आना असम्भव है।

शिवमूर्ति

प्रतापनारायण मिश्र

हमारे ग्रामदेव भगवान् भूतनाथ सब प्रकार से अकथ्य, अप्रतर्क्य एवं अचिन्त्य हैं। तौ भी उनके भक्त-जन अपनी रुचि के अनुसार उनका रूप, गुण, स्वभाव कल्पित कर लेते हैं। उनकी सभी बातें सत्य हैं, अतः उनके विषय में जो कुछ कहा जाय, सब सत्य है। मनुष्य की भाँति ये नाड़ी आदि बंधन से बद्ध नहीं हैं। इससे हम उनको निराकार कह सकते हैं और प्रेमदृष्टि से अपने हृदय-मन्दिर में उनका दर्शन करके साकार भी कह सकते हैं। यथातथ्य वर्णन उनका कोई नहीं कर सकता। तौ भी जितना जो कुछ अभी तक कहा गया है और आगे कहा जावेगा वह सब शास्त्रार्थ के आगे निरी बकबक है और विश्वास के आगे मनःशांतिकारक सत्य है !!! महात्मा कबीर ने इस विषय में जो कहा है वह निहायत सच है कि जैसे कई अंधों के आगे हाथी आवै और कोई उसका नाम बता दे, तो सब उसे टटोलेंगे ! यह तो संभव नहीं है कि मनुष्य के बालक की भाँति उसे गोद में ले के सब कोई अवयव का ठीक-ठीक बोध कर ले। केवल एल अंग टटोल सकते हैं और दाँत टटोलनेवाला हाथी को खूँटी के समान, कान छूनेवाला सूप के समान, पाँव स्पर्श करनेवाला खंभे के समान कहेगा, यद्यपि हाथी न खूँटे के समान है न खंभे के; पर कहनेवालों की

बात झूठी भी नहीं है। उसने भली-भाँति निश्चय किया है और वास्तव में हाथी का एक-एक अंग वैसा ही है जैसा वे कहते हैं। ठीक यही हाल ईश्वर के विषय में हमारी बुद्धि का है। हम पूरा-पूरा वर्णन व पूरा साक्षात् कर लें तो वह अनंत कैसे और यदि निरा अनन्त मान के अपने मन और वचन को उनकी ओर से बिल्कुल फेर लें तौ हम आस्तिक कैसे। सिद्धान्त यह कि हमारी बुद्धि जहाँ तक है वहाँ तक उनकी स्तुति-प्रार्थना, ध्यान, उपासना कर सकते हैं और इसी से हम शांति लाभ करेंगे।

उसके साथ जिस प्रकार का जितना सम्बन्ध हम रख सकें उतना ही हमारा मन, बुद्धि, शरीर संसार परमारथ के लए मंगल है। जो लोग केवल जगत् के दिखाने को वा सामाजिक नियम निभाने को इस विषय में कुछ करते हैं, उनसे तो हमारी यही विनय है कि व्यर्थ समय न बितावैं। जितनी देर पूजा-पाठ करते हैं, जितनी देर माला सरकाते हैं उतनी देर कमाने-खाने, पढ़ने-सुनने में ध्यान दें तो भला है ? और जो केवल शास्त्रार्थी आस्तिक हैं वे भी व्यर्थ ईश्वर को अपना पिता बना के निज माता को कलंक लगाते हैं। माता कह के विचारे जनक को दोषी ठहराते हैं, साकार कल्पना करके व्यापकता का और निराकार कह के अस्तित्व का लोप करते हैं। हमारा यह लेख केवल उनके विनोदार्थ है जो अपनी विचार-शक्ति को काम में लाते हैं और ईश्वर के साथ जीवित सम्बन्ध रख के हृदय में आनन्द पाते हैं तथा आप लाभकारक बातों को समझ के दूसरों को समझाते हैं ! प्रिय पाठक, उसकी सभी बातें अनन्त हैं। तो मूर्तियाँ भी अनन्त प्रकार से बन सकती हैं और एक-एक स्वरूप में अनन्त उपदेश प्राप्त हो सकते हैं। पर हमारी बुद्धि अनन्त नहीं है, इससे कुछ एक प्रकार की मूर्तियों का कुछ-कुछ अर्थ लिखते हैं।

मूर्ति बहुधा पाषाण की होती है जिसका प्रयोजन यह है कि उनसे हमारा दृढ़ सम्बन्ध है। दृढ़ वस्तुओं की उपमा पाषाण से दी जाती है। हमारे विश्वास की नींव पत्थर पर है। हमारा धर्म पत्थर का है। ऐसा

नहीं कि सहज में और का और हो जाय। इसमें बड़ा सुभीता यह भी है कि एक बार बनवा के रख ली, कई पीढ़ी को छुट्टी हुई। चाहे जैसे असावधान पूजक आवें कोई हानि नहीं हो सकती है। धातु की मूर्ति से यह अर्थ है कि हमारा स्वामी द्रवणशील अर्थात् दयामय है। जहाँ हमारे हृदय में प्रेमाग्नि धधकी वहीं हमारा प्रभु हम पर पिघल उठा। यदि हम सच्चे तदीय हैं तो वह हमारी दशा के अनुसार बर्तेंगे, यह नहीं कि उन्हें अपना नियम पालने से काम। हम चाहे मरें चाहे जियें। रत्नमयी मूर्ति से यह भाव है कि ईश्वरीय सम्बन्ध अमूल्य है जैसे पन्ना-पुखराज की मूर्ति बिना एक गृहस्थी भर का धन लगाये नहीं हाथ आती, यह बड़े ही अमीर का साध्य है, वैसे ही प्रेममय परमात्मा भी हम को तभी मिलेंगे जब हम अपने ज्ञान का अभिमान खो दें। यह भी बड़े ही मनुष्य का काम है! मृत्तिका की मूर्त्ति का यह अर्थ है कि उनकी सेवा हम सब ठौर कर सकते हैं। जैसे मिट्टी और जल का अभाव कहीं नहीं है, वैसे ही ईश्वर का वियोग कहीं नहीं है। धन और गुण का ईश्वर प्राप्ति में कुछ काम नहीं। वह निरधन के धन हैं। 'हुनरमन्दों से पूछे जाते हैं बावे हुनर पहिले'। या यों समझ लो कि सब पदार्थ आदि और अन्त में ईश्वर से उत्पन्न हैं, ईश्वर ही में लय होते हैं, इस बात का दृष्टान्त मिट्टी से खूब घटता है। गोबर की मूर्ति यह सिखाती है कि ईश्वर आत्मिक रोगों का नाशक है, हृदय-मन्दिर की कुवासना रूपी दुरगन्ध को हरता है। पारे की मूर्ति में यह भाव है कि प्रेमदेव हम पुष्टि-कारक हैं—'सुगन्धि पुष्टि वर्द्धनम्'। यह मूर्ति बनाने वा बनवाने की सामर्थ्य न हो तो पृथ्वी और जल आदि अष्टमूर्ति बनी बनाई पूजा के लिए विद्यमान हैं।

वास्तविक प्रेम-मूर्ति मनोमन्दिर में विराजमान है। पर यह दृश्य मूर्तियाँ भी निरर्थक नहीं हैं। इनके कल्पनाकारी मूर्ति-निन्दकों से अधिक पढ़े-लिखे थे। मूर्तियों के रङ्ग भी यद्यपि अनेक होते हैं पर मुख्य रङ्ग तीन हैं। श्वेत, जिसका अर्थ यह है कि परमात्मा शुद्ध है, स्वच्छ है, उसकी

किसी बात में किसी का कुछ मेल नहीं है। पर सभी उसके ऐसे आश्रित हो सकते हैं जैसे उजले रङ्ग पर सब रङ्ग। वह त्रिगुणातीत तो हुई, पर त्रिगुणालय भी उसके बिना कोई नहीं। यदि हम सतोगुणमय भी कहें तो बेअदबी नहीं करते! दूसरा लाल रङ्ग है जो रजोगुण का वर्ण है। ऐसा कौन कह सकता है कि यह संसार भर का ऐश्वर्य किसी और का है। और लीजिए कविता के आचार्यों ने अनुराग का रङ्ग लाल कहा है। फिर अनुराग देव का रङ्ग और क्या होगा। तीसरा रङ्ग काला है। उसका भाव सब सोच सकते हैं कि सबसे पक्का यही रङ्ग है, इस पर दूसरा रङ्ग नहीं चढ़ता। ऐसे ही प्रेमदेव सबसे अधिक पक्के हैं, उन पर और रङ्ग क्या चढ़ेगा? इसके सिवाय बाह्यजगत् के प्रकाशक नैन हैं। उनकी पुतली काली होती है, भीतर प्रकाशक ज्ञान है। उसकी प्रकाशिनी विद्या है जिसकी समस्त पुस्तकें काली मसी से लिखी जाती हैं। फिर कहिए जिससे अन्दर, बाहर दोनों प्रकाशित होते हैं, जो प्रेमियों की आँख की ज्योति से भी प्रियतर है, जो अनन्त विद्यामय है, उसका फिर और क्या रङ्ग मानें? हमारे रसिक पाठक जानते हैं, किसी सुन्दर व्यक्ति के आँखों में काजल और गोरे-गोरे गालों पर तिल कैसा भला लगता है कि कवियों भर की पूरी शक्ति, रसिकों भर का सर्वस्व एक बार उस शोभा पर निछावर हो जाता है। यहाँ तक कि जिनके असली तिल नहीं होता उन्हें सुन्दरता बढ़ाने को कृत्रिम तिल बनाना पड़ता है। फिर कहिए तो, सर्वशोभामय परम सुन्दर का कौन रङ्ग कल्पना करोगे? समस्त शरीर में सर्वोपरि शिर है उस पर केश कैसे होते हैं? फिर सर्वोत्कृष्ट देवाधिदेव का और क्या रङ्ग है? यदि कोई बड़ा मैदान हो लाखों कोस या और रात को उसका अन्त लिया चाहो तो सौ दो सौ दीपक जलाओगे। पर क्या उनसे उसका छोर देख लोगे? केवल जहाँ दीप्र-ज्योति है वहां तक देख सकोगे फिर आगे अन्धकार ही तो है? ऐसे ही हमारी, हमारे अगणित ऋषियों की, सब की बुद्धि जिसका रील हाल नहीं प्रकाश सकती उसे अप्रकाशवत् न मानें तो क्या मानें?

रामचन्द्र कृष्णचन्द्रादि को यदि अंग्रेजी जमानेवाले ईश्वर न मानें तौ भी यह मानना पड़ेगा कि हमारी अपेक्षा ईश्वर से और उनसे अधिक सम्बन्ध था। फिर हम क्यों न कहें कि यदि ईश्वर का अस्तित्व है तो इसी रंग-ढंग का है। ! !

अब आकारों पर ध्यान दीजिए। अधिकतर शिवमूर्ति लिङ्गाकार होती है जिसमें हाथ, पाँव, मुख कुछ नहीं होते। सब मूर्ति-पूजक कह देंगे कि 'हम तो साक्षात् ईश्वर नहीं मानते न उसकी यथातथ्य प्रतिकृति मानें। केवल ईश्वर की सेवा करने के लिए एक संकेत-चिह्न मानते हैं।' यह बात आदि में शैवों ही के घर से निकली है, क्योंकि लिङ्ग शब्द का अर्थ ही चिह्न है।

सच भी यही है। जो वस्तु बाह्य नेत्रों से नहीं देखी जाती उसकी ठीक-ठीक मूर्ति ही क्या? आनन्द की कैसी मूर्ति? दुःख की कैसी मूर्ति? रागिनी की कैसी मूर्ति? केवल चित्तवृत्ति। केवल उसके गुणों का कुछ द्योतन !! बस! शिवमूर्ति ठीक यही है। सृष्टि-कर्तृत्व, अचिन्त्यत्व, अप्रतिमत्व, कई बातें लिंगाकार मूर्ति से ज्ञात होती हैं। ईश्वर यावत् संसार का उत्पादक है। ईश्वर कैसा है, यह बात पूर्ण रूप से कोई नहीं वर्णन कर सकता। अर्थात् उसकी सभी बातें गोल हैं। बस जब सभी बातें गोल हैं तो चिह्न भी हमने गोल-गोल कल्पना कर लिया। यदि 'न तस्य प्रतिमास्ति' का ठीक अर्थ यही है कि ईश्वर प्रतिमा नहीं है तो इसकी ठीक सिद्धि ज्योतिर्लिंग ही से होगी क्योंकि जिसमें हाथ, पाँव, मुख, नेत्रादि कुछ भी नहीं है उसे प्रतिमा कौन कह सकता है? पर यदि कोई मोटी बुद्धिवाला कहे कि जो कोई अवयव ही नहीं तो फिर यही क्यों नहीं कहते कि कुछ नहीं है। हम उत्तर दे सकते हैं कि आँखें हों तो धर्म से कह सकते हो कि कुछ नहीं है? तात्पर्य यह है कि कुछ है, और कुछ नहीं है। दोनों बातें ईश्वर के विषय में न कही जा सकें, न नहीं कही जा सकें, और हाँ कहना भी ठीक है एवं नहीं कहना भी ठीक है। इसी भाँति शिवलिंग भी समझ

लीजिए। यह निरवयव है, पर मूर्ति है। वास्तव में यह विषय ऐसा है कि मन, बुद्धि और वाणी से जितना सोचा समझा और कहा जाय उतना ही चढ़ता जायगा। और हम जन्म भर बका करेंगे, पर आपको यही जान पड़ेगा कि अभी श्रीगणेशायनमः हुई है !!!

इसी से महात्मा लोग कह गये हैं कि ईश्वर को वाद में न ढूँढ़ो पर विश्वास में। इसलिए हम भी योग्य समझते हैं कि सावयव (हाथ पाँव इत्यादि वाली) मूर्तियों के वर्णन की ओर झुकें। जानना चाहिये कि जो जैसा होता है उसकी कल्पना भी वैसी ही होती है। यह संसार का जातीय धर्म है कि जो वस्तु हमारे आस-पास हैं, उन्हीं पर हमारी बुद्धि दौड़ती है। फारस, अरब और इंग्लिश देश के कवि जब संसार की अनित्यता का वर्णन करेंगे तो कब्रिस्तान का नकशा खींचेंगे, क्योंकि उनके यहाँ स्मशान होते ही नहीं हैं। वे यह न कहें तौ क्या कहें कि बड़े-बड़े बादशाह खाक में दबे हुए सोते हैं। यदि कब्र का तख्ता उठाकर देखा जाय तो शायद दो-चार हड्डियाँ निकलेंगी जिन पर यह नहीं लिखा कि यह सिकन्दर की हड्डी है, यह दारा की, इत्यादि।

हमारे यहाँ, उक्त विषय में स्मशान का वर्णन होगा, क्योंकि अन्य धर्मियों के आने से पहिले यहाँ कब्रों की चाल ही न थी। यूरोप में खूबसूरती के बयान में अलकावली का रंग काला कभी न कहेंगे। यहाँ ताम्र वर्ण सौन्दर्य का अंग न समझा जायगा। ऐसे ही सब बातों में समझ लीजिए तब समझ में आ जायगा कि ईश्वर के विषय में बुद्धि दौड़ानेवाले सब कहीं सब काल में मनुष्य ही हैं। अतएव उसके स्वरूप की कल्पना मनुष्य ही के स्वरूप की-सी सब ठौर की गई है। इंजील और कुरान में भी कहीं-कहीं खुदा का दाहिना हाथ, बायाँ हाथ इत्यादि वर्णित है, वरंच यह खुला हुआ लिखा है कि उसने आदम को अपने स्वरूप में बनाया। चाहे जैसी उलट-फेर की बातें मौलवी साहब और पादरी साहब कहें, पर इसका यह भाव कहीं न जायगा कि ईश्वर यदि सावयव है तो उसका भी रूप

हमारे ही रूप का सा होगा। हो चाहे जैसा पर हम यदि ईश्वर को अपना आत्मीय मानेंगे तो अवश्य ऐसा ही मान सकते हैं जैसों से प्रत्यक्ष में हमारा उच्च सम्बन्ध है। हमारे माता, पिता, भाई-बन्धु, राजा, गुरु, जिनको हम प्रतिष्ठा का आधार एवं आधेय कहते हैं उन सब के हाथ, पाँव नाक, मुँह हमारे हस्तपादादि से निकले हुए हैं, तो हमारे प्रेम और प्रतिष्ठा का सर्वोत्कृष्ट सम्बन्धी कैसा होगा, बस इसी मत पर सावयव सब मूर्ति मनुष्य की सी मूर्ति बनाई जाती है। विष्णुदेव की सुन्दर सौम्य मूर्तियाँ प्रेमोत्पादनार्थ हैं क्योंकि खूबसूरती पर चित्त अधिक आकर्षित होता है। भैरवादि की मूर्तियाँ भयानक हैं जिसका यह भाव है कि हमारा प्रभु हमारे शत्रुओं के लिए महा भयजनक है। अथ च हम उसकी मंगल-मयी सृष्टि में हलचल डालेंगे तो वह कभी उपेक्षा न करेगा। उसका स्वभाव क्रोधी है। पर शिवमूर्ति में कई एक विशेषताएँ हैं जिनके द्वारा हम यह उपकार यथामति ग्रहण कर सकते हैं।

शिर पर गंगा का चिह्न होने से यह भाव है कि गंगा हमारे देश की सांसारिक और परमार्थिक सर्वस्व हैं और भगवान सदाशिव विश्व-व्यापी हैं। अतः विश्वव्यापी की मूर्ति-कल्पना में जगत् वा सर्वोपरि पदार्थ ही शिरस्थानी कहा जा सकता है। दूसरा अर्थ यह है कि पुराणों में गंगा की विष्णु के चरण से उत्पत्ति मानी गई है और शिवजी को परम वैष्णव कहा है। उस परम वैष्णवता की पुष्टि इससे उत्तम और क्या हो सकती है कि उनके चरण-निर्गत जल को शिर पर धारण करें। ऐसे ही विष्णु भगवान को परम शैव लिखा है कि भगवान विष्णु नित्य सहस्र कमल पुष्पों से सदा शिव की पूजा करते थे। एक दिन एक कमल घट गया तो उन्होंने यह विचार कर कि हमारा नाम कमल-नयन है, अपना नेत्र-कमल शिव जी के चरण-कमल को अर्पण कर दिया। सच है अधिक शैवता और क्या हो सकती है! हमारे शास्त्रार्थी भाई ऐसे वर्णन पर अनेक कुतर्क कर सकते हैं, पर उनका उत्तर हम कभी पुराण-प्रतिपादन से देंगे। इस अवसर

पर हम इतना ही कहेंगे कि ऐसे-ऐसे सन्देह विना कविता पढ़े कभी नहीं दूर होने के। हाँ, इतना हम कह सकते हैं कि भगवान विष्णु की शैवता और भगवान शिव की वैष्णवता का आलंकारिक वर्णन है। वास्तव में विष्णु अर्थात् व्यापक और शिव अर्थात् कल्याणमय यह दोनों एक-ही प्रेमरूप के नाम हैं। उनका वर्णन पूर्णतया असम्भव है। अतः कुछ-कुछ गुण एकत्र कर के दो स्वरूप कल्पना कर लिए गये हैं जिसमें कवियों को वचन-शक्ति के लिए आधार मिले।

हमारा मुख्य विषय शिव-मूर्ति है और वह विशेषतः शैवों के धर्म का आधार है। अतः इन अप्रतर्क्य विषयों का दिग्दर्शन मात्र कथन करके अपने शैव भाइयों से पूछते हैं कि आप भगवान गङ्गाधर के पूजक हो के वैष्णवों से किस विरते पर द्वेष रख सकते हैं? यदि धर्म से अधिक मतवालेपन पर श्रद्धा हो तो अपने प्रेमाधार भगवान भोलानाथ को परम वैष्णव एवं गंगाधर कहना छोड़ दीजिए! नहीं तो सच्चा शैव वही हो सकता है जो वैष्णव मात्र को अपना देवता समझे। इसी भाँति यह भी समझना चाहिए कि गङ्गाजी परम शक्ति हैं, इससे शैवों का शाक्तों के साथ विरोध अयोग्य है। यद्यपि हमारी समझ में तो आस्तिक मात्र को किसी से दोष-बुद्धि रखना पाप है, क्योंकि सब हमारे जगदीश ही की प्रजा हैं, सब हमारे खुदा ही के बन्दे हैं, इस नाते सभी हमारे आत्मीय बन्धु हैं पर शैव-समाज का वैष्णव और शाक्त लोगों से विशेष सम्बन्ध ठहरा। अतः इन्हें तो परस्पर महामैत्री से रहना चाहिए। शिव-मूर्ति में अकेली गंगा कितना हित कर सकती हैं इसे जितने बुद्धिमान जितना विचारें उतना ही अधिक उपदेश प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए हम इस विषय को अपने पाठकों के विचार पर छोड़ आगे बढ़ते हैं।

बहुत मूर्तियों के पाँच मुख होते हैं जिससे हमारी समझ में यह आता है कि यावत् संसार और परमार्थ का तत्व तो चार वेदों में आप को मिल

जायगा, पर यह न समझियेगा कि उनका दर्शन भी वेद-विद्या ही से प्राप्त है। जो कुछ चार वेद सिखलाते हैं उससे भी उनका गुण अधिक है। वेद उनकी वाणी है। केवल चार पुस्तकों पर ही उस वाणी की इति नहीं है। एक मुख और है जिसकी प्रेम-मयी वाणी केवल प्रेमियों के सुनने में आती है। केवल विद्याभिमानी अधिकाधिक चार वेद द्वारा बड़ी हद तक चार फल (धर्मार्थ काम मोक्ष) पा जायँगे, पर उनके पंचम मुख-सम्बन्धी सुख औरों के लिए है।

शिवमूर्ति क्या है और कैसी है, यह बात तो बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी नहीं कह सकते, हम क्या हैं। पर जहाँ तक साधारणतया बहुत सी मूर्तियाँ देखने में आई हैं उनका कुछ वर्णन हमने यथामति किया, यद्यपि कोई बड़े बुद्धिमान इस विषय में लिखते तो बहुत सी उत्तमोत्तम बातें और भी लिखते, पर इतना लिखने से भी हमें निश्चय है किसी न किसी भाई का कुछ भला हो ही रहेगा। मरने के पीछे कैलाशवास तो विश्वास की बात है। हमने न कैलाश देखा है, न किसी देखने वाले से कभी वार्तालाप अथवा पत्र-व्यवहार किया है। हाँ यदि होता होगा तो प्रत्येक मूर्ति के पूजक को ही रहेगा। पर हमारी इस अक्षरमयी मूर्ति के सच्चे सेवकों को संसार ही में कैलाश का सुख प्राप्त होगा इसमें सन्देह नहीं है, क्योंकि जहाँ शिव हैं वहाँ कैलाश है। तो जब हमारे हृदय में शिव होंगे तो हमारा हृदय-मन्दिर क्यों न कैलाश होगा ? हे विश्वनाथ ! कभी हमारे हृदय मन्दिर को कैलाश बनाओगे ? कभी वह दिन दिखाओगे कि भारतवासी मात्र केवल तुम्हारे हो जायँ और यह पवित्र भूमि फिर कैलाश हो जाय ? जिस प्रकार अन्य धातु-पाषाणादि निर्मित मूर्तियों का रामनाथ, वैद्यनाथ, आनन्देश्वर, रामेश्वर, आदि नाम होते हैं वैसे इस अक्षरमयी शिव-मूर्ति के अगणित नाम हैं। हृदयेश्वर, मङ्गलेश्वर, भारतेश्वर इत्यादि, पर मुख्य नाम प्रेमेश्वर है। कोई महाशय प्रेम का अर्थ ईश्वर न समझें। मुख्य अर्थ है कि प्रेममय ईश्वर। इनका दर्शन भी प्रेम-चक्षु के बिना दुर्लभ है। जब

पर हम इतना ही कहेंगे कि ऐसे-ऐसे सन्देह बिना कविता पढ़े कभी नहीं दूर होने के। हाँ, इतना हम कह सकते हैं कि भगवान विष्णु की शैवता और भगवान शिव की वैष्णवता का आलंकारिक वर्णन है। वास्तव में विष्णु अर्थात् व्यापक और शिव अर्थात् कल्याणमय यह दोनों एक-ही प्रेमरूप के नाम हैं। उनका वर्णन पूर्णतया असम्भव है। अतः कुछ-कुछ गुण एकत्र कर के दो स्वरूप कल्पना कर लिए गये हैं जिसमें कवियों को वचन-शक्ति के लिए आधार मिले।

हमारा मुख्य विषय शिव-मूर्ति है और वह विशेषतः शैवों के धर्म का आधार है। अतः इन अप्रतर्क्य विषयों का दिग्दर्शन मात्र कथन करके अपने शैव भाइयों से पूछते हैं कि आप भगवान गङ्गाधर के पूजक हो के वैष्णवों से किस बिरते पर द्वेष रख सकते हैं? यदि धर्म से अधिक मतवालेपन पर श्रद्धा हो तो अपने प्रेमाधार भगवान भोलानाथ को परम वैष्णव एवं गंगाधर कहना छोड़ दीजिए! नहीं तो सच्चा शैव वही हो सकता है जो वैष्णव मात्र को अपना देवता समझे। इसी भाँति यह भी समझना चाहिए कि गङ्गाजी परम शक्ति हैं, इससे शैवों का शाक्तों के साथ विरोध अयोग्य है। यद्यपि हमारी समझ में तो आस्तिक मात्र को किसी से दोष-बुद्धि रखना पाप है, क्योंकि सब हमारे जगदीश ही की प्रजा हैं, सब हमारे खुदा ही के बन्दे हैं, इस नाते सभी हमारे आत्मीय बन्धु हैं पर शैव-समाज का वैष्णव और शाक्त लोगों से विशेष सम्बन्ध ठहरा। अतः इन्हें तो परस्पर महामैत्री से रहना चाहिए। शिव-मूर्ति में अकेली गंगा कितना हित कर सकती हैं इसे जितने बुद्धिमान जितना विचारें उतना ही अधिक उपदेश प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए हम इस विषय को अपने पाठकों के विचार पर छोड़ आगे बढ़ते हैं।

बहुत मूर्तियों के पाँच मुख होते हैं जिससे हमारी समझ में यह आता है कि यावत् संसार और परमार्थ का तत्व तो चार वेदों में आप को मिल

जायगा, पर यह न समझियेगा कि उनका दर्शन भी वेद-विद्या ही से प्राप्त है। जो कुछ चार वेद सिखलाते हैं उससे भी उनका गुण अधिक है। वेद उनकी वाणी है। केवल चार पुस्तकों पर ही उस वाणी की इति नहीं है। एक मुख और है जिसकी प्रेम-मयी वाणी केवल प्रेमियों के सुनने में आती है। केवल विद्याभिमानी अधिकाधिक चार वेद द्वारा बड़ी हद्द तक चार फल (धर्मार्थ काम मोक्ष) पा जायँगे, पर उनके पंचम मुख-सम्बन्धी सुख औरों के लिए है।

शिवमूर्ति क्या है और कैसी है, यह बात तो बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी नहीं कह सकते, हम क्या हैं। पर जहाँ तक साधारणतया बहुत सी मूर्तियाँ देखने में आई हैं उनका कुछ वर्णन हमने यथामति किया, यद्यपि कोई बड़े बुद्धिमान इस विषय में लिखते तो बहुत सी उत्तमोत्तम बातें और भी लिखते, पर इतना लिखने से भी हमें निश्चय है किसी न किसी भाई का कुछ भला हो ही रहेगा। मरने के पीछे कैलाशवास तो विश्वास की बात है। हमने न कैलाश देखा है, न किसी देखने वाले से कभी वार्तालाप अथवा पत्र-व्यवहार किया है। हाँ यदि होता होगा तो प्रत्येक मूर्ति के पूजक को ही रहेगा। पर हमारी इस अक्षरमयी मूर्ति के सच्चे सेवकों को संसार ही में कैलाश का सुख प्राप्त होगा इसमें सन्देह नहीं है, क्योंकि जहाँ शिव हैं वहाँ कैलाश है। तो जब हमारे हृदय में शिव होंगे तो हमारा हृदय-मन्दिर क्यों न कैलाश होगा ? हे विश्वनाथ! कभी हमारे हृदय मन्दिर को कैलाश बनाओगे ? कभी वह दिन दिखाओगे कि भारतवासी मात्र केवल तुम्हारे हो जायँ और यह पवित्र भूमि फिर कैलाश हो जाय ? जिस प्रकार अन्य धातु-पाषाणादि निर्मित मूर्तियों का रामनाथ, वैद्यनाथ, आनन्देश्वर, रामेश्वर, आदि नाम होते हैं वैसे इस अक्षरमयी शिव-मूर्ति के अगणित नाम हैं। हृदयेश्वर, मङ्गलेश्वर, भारतेश्वर इत्यादि, पर मुख्य नाम प्रेमेश्वर है। कोई महाशय प्रेम का अर्थ ईश्वर न समझें। मुख्य अर्थ है कि प्रेममय ईश्वर। इनका दर्शन भी प्रेम-चक्षु के बिना दुर्लभ है। जब

अपनी अकर्मण्यता का और उनके एक-एक उपकार का सच्चा ध्यान जमेगा तब अवश्य हृदय उमड़ेगा और नेत्रों से अश्रुधारा बह चलेगी। उस धारा का नाम प्रेम-गङ्गा है। उसी के जल से स्नान कराने का माहात्म्य है। हृदय-कमल उनके चरणों पर चढ़ाने से अक्षय पुण्य है। यह तो इस मूर्ति की पूजा है जो प्रेम के बिना नहीं हो सकती। पर यह भी स्मरण रखिये कि यदि आपके हृदय में प्रेम है तो संसार भर के मूर्तिमान और अमूर्तिमान सब पदार्थ शिवमूर्ति हैं, अर्थात् कल्याण का रूप है। नहीं तो सोनें और हीरे की मूर्ति तुच्छ है। यदि उससे स्त्री का गहना बनवाते तो उसकी शोभा होती, तुम्हें सुख होता, भैया चारे में नाम होता, विपत्ति-काल में निर्वाह होता। पर मूर्ति से कोई बात सिद्ध नहीं हो सकती। पाषाण, धातु, मृत्तिका का कहना ही क्या है? स्वयं तुच्छ पदार्थ है। केवल प्रेम ही के नाते ईश्वर हैं, नहीं तो घर की चक्की से भी गये-बीते, पानी पीनें के भी काम के नहीं, यही नहीं प्रेम के बिना ध्यान ही में क्या ईश्वर दिखाई देगा? जब चाहो आँखें मूँद के अन्धे की नकल कर देखो। अन्धकार के सिवाय कुछ न सूझेगा। वेद पढ़ने में हाथ-मुँह दोनों दुखेंगे। अधिक श्रम करोगे, दिमाग में गर्मी बढ़ जायगी। खैर इन बातों के बढ़ाने से क्या है? जहाँ तक सहृदयता से विचार कीजिएगा वहाँ तक यही सिद्ध होगा कि प्रेम के बिना वेद झगड़े की जड़, धर्म बे-सिर-पैर के काम, स्वर्ग शेखचिल्ली का महल, मुक्ति प्रेत की बहिन है। ईश्वर का तो पता ही लगना कठिन है, ब्रह्म शब्द ही नपुंसक है। और हृदय-मन्दिर में प्रेत का प्रकाश है। संसार शिवमय है क्योंकि प्रेम ही वास्तविक शिव-मूर्ति अर्थात् कल्याण का रूप है।

हिंदी साहित्य और उसका वैशिष्ट्य

श्यामसुंदरदास

साहित्य की मूल मनोवृत्तियाँ

मनुष्य मात्र की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वह अपने भावों तथा विचारों को दूसरों पर प्रकट करे और स्वयं बड़ी उत्सुकता से दूसरे के भावों और विचारों को सुने और समझे। वह अपनी कल्पना की सहायता से ईश्वर, जीव तथा जगत् के विविध विषयों के सम्बन्ध में कितनी ही बातें सोचता है तथा वाणी के द्वारा उन्हें व्यक्त करने की चेष्टा करता है। वाणी का वरदान उसे चिरकाल से प्राप्त है और उसका उपयोग भी वह चिरकाल से करता आ रहा है। प्रेम, दया, करुणा, द्वेष, घृणा तथा क्रोध आदि मानसिक वृत्तियों का अभिव्यंजन तो मानव-समाज अत्यंत प्राचीन काल से करता ही है, साथ ही प्रकृति के नाना रूपों से उद्भूत अपने मनोविकारों तथा जीवन की अन्यान्य परिस्थितियों के सम्बंध में अपने अनुभवों को व्यक्त करने में भी उसे एक प्रकार का संतोष, तृप्ति अथवा आनन्द प्राप्त होता है। यह सत्य है कि सब मनुष्यों में न तो अभिव्यंजन की शक्ति एक-सी होती है और न सब मनुष्यों के अनुभवों की मात्रा तथा विचारों की गंभीरता ही एक सी होती है, परन्तु साधारणतः यह प्रवृत्ति प्रत्येक मनुष्य में पायी जाती है। मनुष्य की इसी प्रवृत्ति की

प्रेरणा से ज्ञान और आनन्द के उस भंडार का सृजन, संचय और संवर्द्धन होता है जिसे हम साहित्य कहते हैं।

साहित्य के मूल में स्थित इन मनोवृत्तियों के अतिरिक्त एक दूसरी प्रवृत्ति भी है जो सभ्य मानव-समाज में सर्वत्र पाई जाती है और जिससे साहित्य में एक आलौकिक चमत्कार तथा मनोहारिता आ जाती है। इसे हम सौंदर्यप्रियता की भावना कह सकते हैं। सौंदर्यप्रियता की भावना ही शुद्ध साहित्य को एक ओर तो जटिल और नीरस दार्शनिक तत्त्वों से अलग करती तथा दूसरी ओर उसे मानवमात्र के लिए आकर्षक बना देती है। जैसे सब मनुष्यों में मनोवृत्तियों की मात्रा एक सी नहीं होती वैसे ही सौंदर्यप्रियता की भावना उनमें समान रूप से विकसित नहीं होती। सभ्यता तथा संस्कृति के अनुसार भिन्न-भिन्न मनुष्यों में उसके भिन्न-भिन्न स्वरूप हो जाते हैं। परन्तु इसका यह आशय नहीं कि हम प्रयत्न करके किसी देश अथवा काल के साहित्य में उपर्युक्त भावना की न्यूनता अथवा अधिकता का पता नहीं लगा सकते या उसके विभिन्न स्वरूपों को समझ नहीं सकते।

भावपक्ष तथा कलापक्ष

इस प्रकार एक ओर तो हम अपने भावों, विचारों, आकांक्षाओं तथा कल्पनाओं का अभिव्यंजन करते हैं और दूसरी ओर अपने सौंदर्यज्ञान के सहारे उन्हें सुन्दरतम बनाने तथा उनमें एक अद्भुत आकर्षण का आविर्भाव करते हैं। इन्हीं दो मूल तत्वों के आधार पर साहित्य के दो पक्ष हो जाते हैं जिन्हें हम भावपक्ष तथा कलापक्ष कहते हैं। यद्यपि साहित्य के इन दोनों पक्षों में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है और दोनों के समुचित संयोग और सामंजस्य से ही साहित्य को स्थायित्व मिलता तथा उसका सच्चा स्वरूप उपस्थित होता है, तथापि साधारण विवेचन के लिए ये दोनों पक्ष अलग-अलग माने जा सकते हैं और इन पर भिन्न-भिन्न दृष्टियों से

विचार किया जा सकता है। साहित्य के विकास के साथ उसके दोनों पक्षों का विकास भी होता जाता है, पर उनमें समन्वय नहीं बना रहता। तात्पर्य यह कि दोनों पक्षों का समान रूप से विकास होना आवश्यक नहीं है। किसी युग में भावपक्ष की प्रधानता और कला पक्ष की न्यूनता तथा किसी दूसरे युग में इसके विपरीत परिस्थिति हो जाती है। इसलिए साहित्य के इन दोनों अंगों का अलग-अलग विवेचन करना केवल आवश्यक ही नहीं, वरन् कभी-कभी अनिवार्य भी होता है।

भावपक्ष

साहित्य के इन दोनों अंगों में से उसके भावात्मक अंग की अपेक्षाकृत प्रधानता मानी जाती है और कलापक्ष को गौण स्थान दिया जाता है। सच तो यह है कि साहित्य में भावपक्ष ही सब कुछ है, कलापक्ष उसका सहायक तथा उत्कर्षवर्धक मात्र है। साथ ही भावपक्ष पर विचार करना भी अपेक्षाकृत जटिल तथा दुरूह है; क्योंकि मनुष्य को मनोप्रवृत्तियाँ जटिल तथा दुरूह हुआ करती हैं, उनमें शृंखला तथा नियम ढूँढ़ निकालना सरल काम नहीं होता। मनुष्य के भाव और विचार तथा उसकी कल्पनाएँ भी बड़ी विचित्र तथा अनोखी हुआ करती हैं। साहित्य मनुष्य के इन्हीं विचित्र और अनोखे भावों, विचारों तथा कल्पनाओं आदि का व्यक्त स्वरूप है, अतः उसमें भी मानव-स्वभाव-सुलभ सभी विशेषताएँ होती हैं। साहित्य में जो विचित्रता, अनेकरूपता दिखाई देती है उनके मूल में मानव-स्वभाव की विचित्रता तथा अनेकरूपता है। हम स्वयं देखते हैं कि हमारी प्रवृत्ति सदा एक सी नहीं रहती। कभी तो हम अनेक अनोखी कल्पनाएँ किया करते हैं और कभी बहुत से साधारण विचार हमारे मन में उठते हैं; कभी हम बातचीत करते हैं और कभी कथा-कहानी कहते हैं; कभी हम जीवन के जटिल तथा गम्भीर प्रश्नों पर विचार करते हैं और कभी उसके सरल मनोरंजक स्वरूप की व्याख्या करते हैं; कभी हम

आत्मचिंतन में लीन रहते हैं और कभी हमारी दृष्टि समाज अथवा बाह्य जगत् पर आ जमती है। सारांश यह है कि हमारी प्रवृत्ति सदा एक सी नहीं रहती। प्रवृत्तियों की इसी अनेकरूपता के कारण साहित्य में भी अनेकरूपता दिखाई देती है। कविता, नाटक, उपन्यास, आख्यायिका, निबंध आदि जो साहित्य के विभिन्न अङ्ग हैं और इन मुख्य अङ्गों के भी जो अनेक उपांग हैं, उसका कारण यही है कि मनुष्य की मनोवृत्तियों के भी अनेक अङ्ग और उपांग होते हैं तथा उनकी भी विभिन्न श्रेणियाँ होती हैं। इन अङ्गों, उपांगों एवं श्रेणियों के होते हुए भी मानव-स्वभाव के मूल में भावात्मक साम्य होता है, अतएव साहित्य में अनेकरूपता के होते हुए भी भावना-मूलक समता दिखाई देती है और इसी समता पर लक्ष्य रखतें हुए हम साहित्य के इस पक्ष का विवेचन करते हैं।

कलापक्ष

जिस प्रकार मनुष्यों में अपने भावों तथा विचारों को व्यक्त करने की स्वाभाविक इच्छा होती है उसी प्रकार उन भावों तथा विचारों को सुन्दरतम, शृंखलाबद्ध तथा चमत्कार-पूर्ण बनाने की अभिलाषा भी उनमें होती है। यही अभिलाषा साहित्य-कला के मूल में रहती है और इसी की प्रेरणा से स्थूल, नीरस तथा विशृंखल विचारों को सूक्ष्म, सरल और शृंखलाबद्ध साहित्यिक स्वरूप प्राप्त होता है। भावों के अभिव्यंजन का साधन भाषा है और भाषा के आधार शब्द हैं जो वाक्यों में पिरोए जाने पर अपनी सार्थकता प्रदर्शित करते हैं अतः शब्दों तथा वाक्यों का निरंतर संस्कार करते रहने एवं उपयुक्त रीति से उसका प्रयोग करने से ही अधिक से अधिक प्रभावोत्पादकता आ सकती है। इसके अतिरिक्त प्रचलित लोकोक्तियों का समुचित प्रयोग तथा भावव्यंजन की अनेक आलंकारिक प्रणालियों का उपयोग भी साहित्य-ग्रंथों की एक विशेषता है। कविता में भावों के उपयुक्त मनोहर छन्दों का प्रयोग तो चिरकाल से होता आ

रहा है और नित्य नवीन छंदों का निर्माण भी साहित्य के कलापक्ष की पुष्टि करता है। भाषा की गति या प्रवाह, वाक्यों का समीकरण, शब्दों की लाक्षणिक तथा व्यंजनामूलक शक्तियों का अधिकाधिक प्रयोग ही साहित्य के कलापक्ष के विकास की सीढ़ियाँ हैं। इस विषय का विस्तृत विवरण रीति-ग्रन्थों में मिलता है। संकुचित अर्थ में इसको साहित्य-शास्त्र कहा गया है।

सार्वभौम साहित्य

इस प्रकार साहित्य के भाव और कलापक्षों का विवेचन करके हम उसके तथ्य को समझ सकते हैं और यह जान सकते हैं कि साहित्य मनुष्य मात्र के लिए स्वाभाविक है और अपने इस स्वरूप में वह देश और काल की सीमा से बद्ध नहीं है। साहित्य का आधार है भाव; और भाव संपूर्ण मानव जगत् की सामान्य निधि है। किसी भी देश, जाति अथवा काल के मनुष्यों के हृदय में प्रेम, उत्साह, करुणा, क्रोध आदि नाना भावों का उदय सदा एक सा ही होता है। उन भावों के व्यक्त करने के प्रकार अर्थात् भाषा, शैली और परिस्थिति की भिन्नता के कारण उनकी अनुभूति के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ सकता। अनुभूति की इस व्यापक एकरूपता के आधार पर यदि हम चाहें तो विश्व भर के साहित्य की परस्पर तुलना कर सकते हैं, और स्थूल रूप से संसार के प्रसिद्ध प्रसिद्ध कवियों अथवा साहित्य-निर्माताओं की विभिन्न श्रेणियाँ भी निरूपित कर सकते हैं। उदाहरणार्थ हम यूनान के प्रसिद्ध कवि होमर की तुलना संस्कृत के आदि-कवि वाल्मीकि से कर सकते हैं और कालिदास तथा शेक्सपियर को उत्कृष्ट नाटककारों की श्रेणी में रख सकते हैं। वर्ण्य विषयों के आधार पर जायसी तथा उमर खैयाम आदि प्रेमप्रधान कवियों की एक श्रेणी हो सकती है; और देव, बिहारी, मतिराम आदि हिन्दी के शृङ्गारी कवि संस्कृत के अमरुक प्रभृति कवियों की कोटि में रखे जा सकते हैं। भावपक्ष की इस समता के साथ कविता के कलापक्ष की तुलना भी व्यापक

दृष्टि से की जा सकती है। उदाहरणार्थ केशवदास जैसे कलाप्रधान कवि की तुलना अंगरेज कवि पोप अथवा ड्राइडेन से की जा सकती है; और कबीर जैसे दार्शनिक किंतु अव्यवस्थित भाषा तथा छंदों का प्रयोग करने वाले कवि की समता ब्राउनिंग आदि से हो सकती है।

इसमें संदेह नहीं कि संसार के भिन्न-भिन्न देशों के कवियों और साहित्य-निर्माताओं की यह तुलनात्मक आलोचना बड़ी ही विशद और उपादेय होती है। इससे यह जाना जा सकता है कि मनुष्य मात्र में जातीय और स्थानीय विशेषताओं के होते हुए भी एक सार्वजनिक एकता है और सभी श्रेष्ठ कवियों तथा लेखकों की रचनाओं में भावनामूलक साम्य भी है। निश्चय ही वह भावना मनुष्य-मात्र के लिए कल्याणकारिणी तथा अत्यंत उदार होती है। उत्कृष्ट कोटि के कवियों की कल्पनाएँ एक दूसरे से बहुत अंशों में मिलती-जुलती होती हैं तथा उनकी काव्य रचना की प्रणाली भी बहुत कुछ समता लिए होती है। ससार के भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में सद्भाव उत्पन्न करने में इस तात्विक एकता का उद्घाटन तथा प्रदर्शन करना अत्यंत उपयोगी सिद्ध हो सकता है जो उन राष्ट्रों के साहित्य के मूल में है। साथ ही इस तुलनात्मक समीक्षा के द्वारा हम अनेक देशों और समयों के कवियों की व्यक्तिगत विशेषताएँ, उनकी प्रतिभा की दिशा तथा सामयिक स्थिति का भी परिचय प्राप्त कर सकते हैं। उक्त परिचय से हमें अपने समय के साहित्य की त्रुटियों की ओर ध्यान देने और उन्हें यथाशक्ति सुधारने की चेष्टा करने की भी प्रेरणा हो सकती है। अवश्य ही यह साहित्य का सार्वभौम अध्ययन और आलोचन एक कठिन कार्य है और विशेष सूक्ष्म दृष्टि तथा तत्पर अनुशीलन की आवश्यकता रखता है। साथ ही इस कार्य को करनेवाले व्यक्ति में राष्ट्रीय या जातीय पक्षपात लेशमात्र भी न होना चाहिए, अन्यथा उसका कार्य विफल तथा हानिकारक भी हो सकता है। खेद है कि कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने इस सम्बन्ध के जो ग्रंथ लिखे हैं उनमें पाश्चात्य साहित्य को अन्यायपूर्ण

प्रधानता दी गई है। इनका प्रधान कारण राष्ट्रीय पक्षपात ही प्रतीत होता है। इस प्रणाली का अनुकरण करने से किसी उच्च उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती वरन् अज्ञान तथा कटुता की ही वृद्धि होगी।

जातीय साहित्य

भौगोलिक कारणों से अथवा जलवायु के फलस्वरूप या अन्य किसी कारण से, प्रत्येक देश अथवा जाति के साहित्य में कुछ न कुछ विशेषता होती है। जब हम यूनानी साहित्य, अँग्रेजी साहित्य अथवा भारतीय साहित्य का नाम लेते हैं और उनके सम्बन्ध में विचार करते हैं तो उसमें स्पष्ट रीति से कुछ ऐसी विशेषताएँ दिखाई देती हैं जिनके कारण उनके रूप कुछ भिन्न जान पड़ते हैं तथा जिनके फल-स्वरूप उनके स्वतंत्र अस्तित्व की सार्थकता भी समझ में आ जाती है। यह संभव है कि कोई विशेष कलाकार किसी विशेष समय और विशेष परिस्थितियों से प्रभावान्वित होकर विदेशीय या विजातीय कला का अनुकरण करे तथा उनके विचारों की आँख मूँद कर नकल करना आरंभ कर दे, परन्तु साहित्य के साधारण विकास में जातीय भावों तथा विचारों की छाप किसी न किसी रूप में अवश्य रहती है और इसका कारण है।

प्रत्येक सभ्य तथा स्वतंत्र देश का अपना स्वतंत्र साहित्य तथा अपनी स्वतंत्र कला होती है। भारतवर्ष में भी साहित्य तथा अन्यान्य कलाओं का स्वतंत्र विकास हुआ और उनकी अपनी विशेषताएँ भी हुईं। भारतीय साहित्य तथा कला की विशेषताओं पर साधारण दृष्टि से विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन पर भारतीय आध्यात्मिक तथा लौकिक विचारों की गहरी छापें हैं। हम लोग प्राचीन काल से आदर्शवादी रहे हैं। क्षणिक और परिवर्तनशील वर्तमान, चाहे वह कितना ही समृद्ध क्यों न हो, हमारा अंतिम लक्ष्य कभी नहीं रहा। उसके भीतर से होकर सदा हमारी दृष्टि भविष्य के पूर्ण आनन्दमय अमर

जीवन पर ही लगी रही है। यही कारण है कि हमारे साहित्य तथा अन्य ललित कलाओं में आदर्शवादिता की प्रचुरता देख पड़ती है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि साहित्य और कलाएँ हमारे भावों तथा विचारों का प्रतिबिंब मात्र हैं। सारांश यह कि जहाँ संसार की उन्नत जातियों की कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं, वहाँ उनके साहित्य आदि पर भी उन विशेषताओं का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। इन्हीं साहित्यिक विशेषताओं के कारण "जातीय साहित्य" का व्यक्तित्व निर्धारित होता है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या जातिगत विशेषताएँ सदा-सर्वदा पुरातन आधारों पर ही स्थिर रहती हैं अथवा समय और स्थिति के अनुसार आदर्शों में परिवर्तन के साथ उनमें भी परिवर्तन हो जाता है। इनमें कोई संदेह नहीं कि समय, संसर्ग और स्थिति के प्रभाव से जातीय आदर्शों में परिवर्तन हो जाता है, पर उनके पुरातन आधारों का सर्वथा लोप नहीं होता। इन्हीं पुरातन आदर्शों की नींव पर नए आदर्शों की उद्भावना होती है। जहाँ कारण विशेष से ऐसा नहीं होने पाता वहाँ के नए आदर्शों के स्थायित्व में बहुत कुछ कमी हो जाती है। जातीयता के स्थायित्व के लिए आदर्शों की धारा का अक्षुण्ण रहना आवश्यक है। हाँ, समय समय पर उस धारा की अंगपुष्टि के लिए नए आदर्शरूपी स्रोतों का उसमें मिलना आवश्यक और हितकर होता है। ठीक यही स्थिति साहित्यरूपी सरिता की भी होती है। जिस प्रकार किसी जाति के परम्परागत विचार तथा स्थिर दार्शनिक सिद्धांत सहसा लुप्त नहीं हो सकते उसी प्रकार जातीय साहित्य तथा कलाएँ भी अपनी जातीयता का लोप नहीं कर सकतीं। जातीयता का लोप कलाओं के विकास में बाधाएँ उपस्थित करता है। अतः उसका परित्याग अथवा उसकी अवहेलना किसी अवस्था में उचित नहीं। प्रसिद्ध भारतीय चित्रकार फैजी रूमी ने, अभी थोड़े दिन हुए, कहा है—

भारतीय कला तो अब नष्ट हो गई है। न तो उसको ठीक-ठीक समझनेवाले हैं और उसका यथोचित सम्मान करनेवाले हैं। हमारे कलाकार ऐसी रचनाएँ करते हैं जिनमें मौलिकता होती ही नहीं। इसका कारण यह है कि ये कलाकार सच्चे भारतीय भावों को भूलकर विदेशियों का अनुसरण कर रहे हैं। मेरी सम्मति में ये पश्चिमीय कलाकारों की समता कर ही नहीं सकते—विशेषकर ऐसी अवस्था में जब कि ये उनकी त्यक्त पुरानी शैलियों का उपयोग करते हैं। इसी बीच में वे अपनी स्वतंत्र शैलियों को भूल जा रहे हैं।

"आजकल भारतीय विद्यालयों में जो कला की शिक्षा दी जाती है, वह बहुत भद्दी है, वह अधःपतित तथा निम्न श्रेणी की होती है। हम छात्रवृत्तियाँ देकर विद्यार्थियों को कला की शिक्षा के लिए यूरोप भेजने का प्रबंध करते हैं। मेरी सम्मति में यह हमारी भूल है। मेरे विचार में उन्हें भारतीय कला की शिक्षा दी जानी चाहिए और उन्हें भारतीय शैली से परिचित होना चाहिए। पश्चिमी कलाकारों की समता करने का प्रयास कभी सफल नहीं हो सकता।"

हिंदी में जातीय साहित्य की योग्यता

अस्तु, उस अधिक व्यापार विषय को यहीं छोड़कर हमें अपने मुख्य विषय पर आना चाहिए। हम यह जानते हैं कि हिंदी साहित्य का वंशगत संबंध प्राचीन भारतीय साहित्यों से है; क्योंकि संस्कृत तथा प्राकृत आदि की विकसित परंपरा ही हिंदी कहलाई है। जिस प्रकार पुत्री अपनी माता के रूप की ही नहीं, गुण की भी उत्तराधिकारिणी होती है, उसी प्रकार हिंदी ने भी संस्कृत, पाली तथा प्राकृत आदि साहित्य में अभिव्यंजित आर्य-जाति की स्थायी चित्तवृत्तियों और उसके विचारों की परंपरागत संपत्ति प्राप्त की है। इस दृष्टि से हिंदी साहित्य में जातीय साहित्य कहलाने की पूरी योग्यता है। अतएव हम पहले भारतवर्ष के जातीय साहित्य की मुख्य-

मुख्य विशेषताओं का विचार करेंगे और तब हिंदी साहित्य के स्वरूप का चित्र उपस्थित करने का उद्योग करेंगे।

हिंदी की विशेषताएँ

समस्त भारतीय साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता उसके मूल में स्थित समन्वय की भावना है। उसकी यह विशेषता इतनी प्रमुख तथा मार्मिक है कि केवल इसी के बल पर संसार के अन्य साहित्यों के सामने वह अपनी मौलिकता की पताका फहरा सकती है और अपने स्वतंत्र अस्तित्व की सार्थकता प्रमाणित कर सकती है। जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भारत के ज्ञान, भक्ति तथा कर्म के समन्वय की प्रसिद्धि है तथा जिस प्रकार वर्ण एवं आश्रम चतुष्टय के निरूपण द्वारा इस देश में सामाजिक समन्वय का सफल प्रयास हुआ है, ठीक उसी प्रकार साहित्य तथा अन्यान्य कलाओं में भी भारतीय प्रवृत्ति समन्वय की ओर रही है। साहित्यिक समन्वय से हमारा तात्पर्य साहित्य में प्रदर्शित सुख-दुःख, उत्थान-पतन हर्ष-विषाद आदि विरोध तथा विपरीत भावों के समीकरण तथा एक अलौकिक आनंद में उनके विलीन होने से है। साहित्य के किसी अंग को लेकर देखिए, सर्वत्र यही समन्वय दिखाई देगा। भारतीय नाटकों में सुख और दुःख के प्रबल घात-प्रतिघात दिखाए गए हैं पर सब का अवसान आनंद में ही किया गया है। इसका प्रधान कारण यह है कि भारतीयों का ध्येय सदा से जीवन का आदर्श स्वरूप उपस्थित करके उसका उत्कर्ष बढ़ाने और उसे उन्नत बनाने का रहा है। वर्तमान स्थिति से उसका इतना संबंध नहीं है जितना भविष्य की संभाव्य उन्नति से है। हमारे यहाँ यूरोपीय ढंग के दुःखांत नाटक इसीलिए नहीं देख पड़ते। यदि आजकल दो-चार ऐसे नाटक देख भी पड़ने लगे हैं तो वे भारतीय आदर्श से दूर और यूरोपीय आदर्श के अनुकरण मात्र हैं। कविता के क्षेत्र में ही देखिए। यद्यपि विदेशीय शासन से पीड़ित तथा अनेक क्लेशों से

संतत देश निराशा की चरम सीमा तक पहुँच चुका था और उसके सभी अवलंबों की इतिश्री हो चुकी थी, पर फिर भी भारतीयता के सच्चे प्रतिनिधि तत्कालीन महाकवि गोस्वामी तुलसीदास अपने विकाररहित हृदय से समस्त जाति को आश्वासन देते हैं—

भरे भाग अनुराग लोग कहैं राम अवध चितवन चितई है।
विनती सुनी सानंद हेरि हँसि करुनावारि भूमि भिजई है॥
राम राज भयो काज सगुन सुभ राजाराम जगत विजई है।
समरथ बड़ो सुजान सुसाहब सुकृत-सेन हारत जितई है॥

आनन्द की कितनी महान् भावना है। चित्त किसी अनुभूत ऐश्वर्य की कल्पना में मानो नाच उठता है। हिंदी साहित्य के विकास का समस्त युग विदेशी तथा विजातीय शासन का युग था। इस कारण भारतीय जनता के लिए वह निराशा तथा संताप का युग था, परन्तु फिर भी साहित्यिक समन्वयों का कभी अनादर नहीं हुआ। आधुनिक युग के हिंदी कवियों में यद्यपि पश्चिमी आदर्शों की छाप पड़ने लगी है और लक्षणों के देखते हुए इस छाप के अधिकाधिक गहरी हो जाने की संभावना हो रही है। परन्तु जातीय साहित्य की धारा अक्षुण्ण रखनेवाले कुछ कवि अब भी वर्तमान हैं।

यदि हम थोड़ा सा विचार करें तो उपर्युक्त साहित्यिक समन्वय का रहस्य हमारी समझ में आ सकता है। जब हम थोड़ी देर के लिए साहित्य को छोड़कर भारतीय कलाओं का विश्लेषण करते हैं तब उनमें भी साहित्य की ही भाँति समन्वय की छाप दिखाई पड़ती है। सारनाथ की बुद्ध भगवान् की मूर्ति में ही समन्वय की यह भावना निहित है। बुद्ध की वह मूर्ति उस समय की है जब वे छः महीने की कठिन साधना के उपरांत अस्थिपंजर मात्र ही रहे होंगे; परन्तु मूर्ति में कहीं कृशता का पता नहीं, उसके चारों ओर एक स्वर्गीय आभा नृत्य कर रही है।

इस प्रकार साहित्य तथा कलाओं में भी एक प्रकार का आदर्शात्मक साम्य देखकर उसका रहस्य जानने की इच्छा और भी प्रबल हो जाती है। हमारे दर्शन-शास्त्र हमारी इस जिज्ञासा का समाधान कर देते हैं। भारतीय दर्शनों के अनुसार परमात्मा तथा जीवात्मा में कुछ भी अन्तर नहीं, दोनों एक ही हैं, दोनों सत्य हैं, चेतन हैं तथा आनंद-स्वरूप हैं। बंधन मायाजन्य है। माया अज्ञान है, भेद उत्पन्न करनेवाली वस्तु है। जीवात्मा मायाजन्य अज्ञान को दूरकर अपना सच्चा स्वरूप पहचानता है और आनंदमय परमात्मा में लीन हो जाता है। आनंद में विलीन हो जाना ही मानव-जीवन का चरम उद्देश्य है। जब हम इस दार्शनिक सिद्धांत का ध्यान रखते हुए उपर्युक्त समन्वय पर विचार करते हैं, तब उसका रहस्य हमारी समझ में आ जाता है तथा उस विषय में और कुछ कहने-सुनने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

भारतीय साहित्य की दूसरी बड़ी विशेषता उसमें धार्मिक भावों की प्रचुरता है। हमारे यहाँ धर्म की बड़ी व्यापक व्याख्या की गई है। और जीवन के अनेक क्षेत्रों में उसको स्थान दिया गया है। धर्म में धारण करने की शक्ति है अतः केवल अध्यात्मपक्ष में ही नहीं, लौकिक आचारों-विचारों तथा राजनीति तक में उसका नियंत्रण स्वीकार किया गया है। मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को ध्यान में रखते हुए अनेक सामान्य तथा विशेष धर्मों का निरूपण किया गया है। वेदों के एकेश्वरवाद, उपनिषदों के ब्रह्मवाद तथा पुराणों के अवतारवाद और बहुदेववाद की प्रतिष्ठा जन-समाज में हुई है और तदनुसार हमारा धार्मिक दृष्टिकोण भी अधिकाधिक विस्तृत तथा व्यापक होता गया है। हमारे साहित्य पर धर्म की इस अतिशयता का प्रभाव दो प्रधान रूपों में पड़ा। आध्यात्मिकता की अधिकता होने के कारण हमारे साहित्य में एक ओर तो पवित्र भावनाओं और साधारण लौकिक भावों तथा विचारों का विस्तार नहीं हुआ। प्राचीन वैदिक साहित्य से लेकर हिन्दी के वैष्णव

साहित्य तक में हम यही बात पाते हैं। सामवेद की मनोहारिणी तथा मृदु-गम्भीर ऋचाओं से लेकर सूर तथा मीरा आदि की सरल रचनाओं तक में सर्वत्र परोक्ष भावों की अधिकता तथा लौकिक विचारों की न्यूनता देखने में आती है।

उपर्युक्त मनोवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि साहित्य में उच्च विचार तथा पवित्र भावनाएँ तो प्रचुरता से भरी गईं, परन्तु उसमें लौकिक जीवन की अनेकरूपता का प्रदर्शन न हो सका। हमारी कल्पना अध्यात्म-पक्ष में तो निस्सीम तक पहुँच गई वरन्तु ऐहिक जीवन का चित्र उपस्थित करने में वह कुछ कुण्ठित-सी हो गई। हिंदी की चरम उन्नति का काल भक्ति-काव्य का काल है, जिसमें उसके साहित्य के साथ हमारे जातीय साहित्य के लक्षणों का सामंजस्य स्थापित हो जाता है।

धार्मिकता के भाव से प्रेरित होकर जिस सरस तथा सुन्दर-साहित्य का सृजन हुआ, वह वास्तव में हमारे गर्व की वस्तु है; परन्तु समाज में जिस प्रकार धर्म के नाम पर अनेक ढोंग रचे जाते हैं तथा गुरुदंभ का प्रचार होने लगता है, उसी प्रकार साहित्य में भी धर्म के नाम पर पर्याप्त अनर्थ होता है। हिंदी साहित्य के क्षेत्र में हम यह अनर्थ दो मुख्य रूपों में देखते हैं। एक तो सांप्रदायिक कविता तथा नीरस उपदेशों के रूप में और दूसरा "कृष्ण" का आधार लेकर की हुई हिंदी के शृंगारी कवियों की कविता के रूप में। हिंदी में सांप्रदायिक कविता का एक युग ही हो गया है और "नीति के दोहों" की तो अब तक भरमार है। अन्य दृष्टियों से नहीं तो कम से कम शुद्ध साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से ही सही, सांप्रदायिक तथा उपदेशात्मक साहित्य का अत्यन्त निम्न स्थान है; क्योंकि नीरस पदावली में दिए गए कोरे उपदेशों में कवित्व की मात्रा बहुत थोड़ी होती है। राधाकृष्ण को आलंबन मानकर हमारे शृङ्गारी कवियों ने अपने कलुषित तथा वासनामय उद्गारों को व्यक्त करने का जो ढंग निकाला वह समाज के लिए हितकर सिद्ध न हुआ। यद्यपि आदर्श

की कल्पना करनेवाले कुछ साहित्य-समीक्षक इस शृंगारिक कविता में भी उच्च आदर्शों की उद्भावना कर लेते हैं, पर फिर भी हम वस्तुस्थिति की किसी प्रकार अवहेलना नहीं कर सकते। यह ठीक है कि सब प्रकार की शृंगारिक कविता ऐसी नहीं है कि उसमें शुद्धप्रेम का अभाव तथा कलुषित वासनाओं का ही अस्तित्व हो, पर यह स्पष्ट है कि पवित्र भक्ति का उच्च आदर्श, समय पाकर, लौकिक शरीरजन्य तथा वासनामूलक प्रेम में परिणत हो गया था। बात यह है कि भक्ति और शृंगार दोनों का मूलभाव रति ही है, और भगवद्विषयक रति तथा दांपत्य रति में प्रधान भेद केवल आलंबनगत है। माधुर्य भाव की भक्ति भक्त और भगवान् के बीच दांपत्य सम्बन्ध की ही भावना को लेकर चलती है, अतः राधाकृष्ण आदि दिव्य आलंबनों पर से ध्यान हटते ही उसमें और शृंगार में कोई अंतर नहीं दिखाई देता। दोनों के आलंबनगत इस सूक्ष्म भेद पर दृष्टि न रखने के कारण ही भक्तों में जहाँ शृंगार का वर्णन केवल भगवत्प्रेम की व्यंजना के लिए एकमात्र था वहाँ पीछे के शृंगारी कवियों में कृष्ण और राधा सामान्य लौकिक नायक और नायिका के पर्याय हो गए।

साहित्य की देशगत विशेषताएँ

यद्यपि भारतीय साहित्य की कितनी ही अन्य जातिगत विशेषताएँ हैं परन्तु हम उसकी दो प्रधान विशेषताओं के उपर्युक्त विवेचन से ही संतोष करके, उसकी दो एक देशगत विशेषताओं का वर्णन करके यह प्रसंग समाप्त करेंगे। प्रत्येक देश के जलवायु अथवा भौगोलिक स्थिति का प्रभाव उस देश के साहित्य पर अवश्य पड़ता है और यह प्रभाव बहुत कुछ स्थायी भी होता है। संसार के सब देश एक ही प्रकार के नहीं होते। जलवायु तथा गर्मी सर्दी के साधारण विभेदों के अतिरिक्त उनके प्राकृतिक दृश्यों तथा उर्वरता आदि में भी अंतर होता है। यदि पृथ्वी पर अरब तथा सहारा जैसी दीर्घकाय मरुभूमियाँ हैं तो साइबीरिया तथा रूस के विस्तृत मैदान भी हैं। यदि यहाँ इंगलैंड तथा आयरलैंड जैसे जला-

वृत द्वीप हैं तो चीन जैसा विस्तृत भूखंड भी है। इन विभिन्न भौगोलिक स्थितियों का उन देशों के साहित्यों से संबंध होता है, इसी को हम साहित्य की देशगत विशेषता कहते हैं।

हिंदी की देशगत विशेषताएँ

भारत की शस्यश्यामल भूमि में जो निःसर्गसिद्ध सुषमा है, उससे भारतीय कवियों का चिरकाल से अनुराग रहा है। यों तो प्रकृति की साधारण वस्तुएँ भी मनुष्य मात्र के लिए आकर्षक होती हैं, परन्तु उसकी सुन्दरतम विभूतियों में मानववृत्तियाँ विशेष प्रकार से रमती हैं। अरब के कवि मरुस्थल में रहते हुए किसी साधारण से झरने अथवा ताड़ के लंबे-लंबे पेड़ों में सौंदर्य का अनुभव कर लेते हैं, तथा ऊँटों की चाल में ही सुन्दरता की कल्पना कर लेते हैं, परन्तु जिन्होंने भारत की हिमाच्छादित शैल-माला पर संध्या की सुनहली किरणों की सुषमा देखी है, अथवा जिन्हें घनी अमराइयों की छाया में कल-कल ध्वनि से बहती निर्झरिणी तथा उसकी समीपवर्तिनी लताओं की वसंतश्री देखने का अवसर मिला है, साथ ही जो यहाँ के विशालकाय हाथियों की मतवाली चाल देख चुके हैं उन्हें अरब की उपर्युक्त वस्तुओं में सौंदर्य तो क्या, हाँ उलटे नीरसता, शुष्कता और भद्दापन ही मिलेगा। भारतीय कवियों को प्रकृति की सुरम्य गोद में क्रीड़ा करने का सौभाग्य प्राप्त है, वे हरे-भरे उपवनों में तथा सुन्दर जलाशयों के तटों पर विचार करते एवं प्रकृति के नाना मनोहारी रूपों से परिचित होते हैं। यही कारण है कि भारतीय कवि प्रकृति के संश्लिष्ट तथा सजीव चित्र जितनी मार्मिकता, उत्तमता तथा अधिकता से अंकित कर सकते हैं एवं उपमा-उत्प्रेक्षाओं के लिए जैसी सुन्दर वस्तुओं का उपयोग कर सकते हैं, वैसा रूखे-सूखे देशों के निवासी कवि नहीं कर सकते। यह भारतभूमि की ही विशेषता है कि यहाँ के कवियों का प्रकृति-वर्णन तथा तत्संभूत सौंदर्यज्ञान उच्चकोटि का होता है।

प्रकृति के रम्य रूपों से तल्लीनता की जो अनुभूति होती है, उसका

उपयोग कविगण कभी-कभी रहस्यमयी भावनाओं के संचार में भी करते हैं। यह अखंड भूमंडल तथा असंख्य ग्रह-उपग्रह, रवि-शशि अथवा जल, वायु, अग्नि, आकाश कितने रहस्यमय तथा अज्ञेय हैं। इनकी सृष्टि, संचालन आदि के सम्बन्ध में दार्शनिकों अथवा वैज्ञानिकों ने जिन तत्वों का निरूपण किया है वे ज्ञानगम्य अथवा बुद्धिगम्य होने के कारण शुष्क तथा नीरस हैं। काव्यजगत् में इतनी शुष्कता तथा नीरसता से काम नहीं चल सकता, अतः कविगण बुद्धिवाद के चक्कर में न पड़कर व्यक्त प्रकृति के नाना रूपों में एक अव्यक्त किन्तु सजीव सत्ता का साक्षात्कार करते तथा उससे भावमग्न होते हैं। इसे हम प्रकृति संबंधी रहस्यवाद कह सकते हैं, और व्यापक रहस्यवाद का एक अंग मान सकते हैं। प्रकृति के विविध रूपों में विविध भावनाओं के उद्रेक की क्षमता होती है; परंतु रहस्यवादी कवियों को अधिकतर उसके मधुर स्वरूप से प्रयोजन होता है, क्योंकि भावावेश के लिए प्रकृति के मनोहर रूपों की जितनी उपयोगिता होती है, उतनी दूसरे रूपों की नहीं होती। यद्यपि इस देश की उत्तरकालीन विचारधारा के कारण हिंदी में बहुत थोड़े रहस्यवादी कवि हुए हैं परंतु कुछ प्रेम-प्रधान कवियों ने भारतीय मनोरम दृश्यों की सहायता से अपनी रहस्यमयी उक्तियों को अत्यधिक सरस तथा हृदय-ग्राही बना दिया है। यह भी हमारे साहित्य की एक देशगत विशेषता है।

हिंदी के कलापक्ष की विशेषताएँ

ये जातिगत तथा देशगत विशेषताएँ तो हमारे साहित्य के भावपक्ष की हैं। इनके अतिरिक्त उनके कलापक्ष में भी कुछ स्थायी जातीय मनोवृत्तियों का प्रतिबिंब अवश्य दिखाई देता है। कलापक्ष से हमारा अभिप्राय केवल शब्द-संगठन अथवा छंदो-रचना तथा विविध आलंकारिक प्रयोगों से नहीं है, प्रत्युत उसमें भावों को व्यक्त करने की शैली भी सम्मिलित है। यद्यपि प्रत्येक कविता के मूल में कवि का व्यक्तित्व अंतर्निहित रहता है और आवश्यकता पड़ने पर उस कविता के विश्लेषण द्वारा हम कवि

के आदर्शों तथा उनके व्यक्तित्व से परिचित हो सकते हैं, परन्तु साधारणतः हम यह देखते हैं कि कुछ कवियों में उत्तम पुरुष एक वचन के प्रयोग की प्रवृत्ति अधिक होती है तथा कुछ कवि अन्य पुरुष से अपने भाव प्रकट करते हैं। अँगरेजी में इसी विभिन्नता के आधार पर कविता के व्यक्तिगत (Subjective) तथा वस्तुगत (Objective) नामक विभेद हुए हैं। परंतु ये विभेद वास्तव में कविता के नहीं हैं, उसकी शैली के हैं। दोनों प्रकार की कविताओं में कवि के आदर्शों का अभिव्यंजन होता है, अन्तर केवल इस अभिव्यंजन के ढंग में रहता है। एक में वे आदर्श आत्म-कथन अथवा आत्म-निवेदन के रूप में व्यक्त किये जाते हैं तथा दूसरे में उन्हें व्यंजित करने के लिए वर्णनात्मक प्रणाली का आधार ग्रहण किया जाता है। भारतीय कवियों में दूसरी (वर्णनात्मक) शैली की अधिकता तथा पहली की न्यूनता पाई जाती है। यही कारण है कि यहाँ वर्णनात्मक काव्य अधिक हैं तथा कुछ भक्त कवियों की रचनाओं के अतिरिक्त उस प्रकार की कविता का अभाव है, जिसे गीतिकाव्य कहते हैं और जो विशेषकर पदों के रूप में लिखी जाती है*।

साहित्य के कलापक्ष की अन्य महत्त्वपूर्ण जातीय विशेषताओं से परिचित होने के लिए हमें उसके शब्द-समुदाय पर ध्यान देना पड़ेगा, साथ ही भारतीय संगीतशास्त्र की कुछ साधारण बातें भी जान लेनी होंगी। वाक्यरचना के विविध भेदों, शब्दगत तथा अर्थगत अलंकारों और अक्षर-मात्रिक अथवा लघु-गुरु-मात्रिक आदि छंदसमुदायों का विवेचन भी उपयोगी हो सकता है। परंतु एक तो ये विषय इतने विस्तृत हैं कि इन पर यहाँ विचार करना संभव नहीं और दूसरे इनका संबंध साहित्य की आत्मा से उतना पृथक् नहीं है जितना व्याकरण, अलंकार और पिंगल

---

* आजकल हिंदी में अँगरेजी के ढंग की Lyric कविताएँ भी प्रचुरता से लिखी जाने लगी हैं।

से है। तीसरी बात यह भी है कि इनमें जातीय विशेषताओं की कोई स्पष्ट छाप भी नहीं देख पड़ती, क्योंकि ये सब बातें थोड़े-बहुत अन्तर से प्रत्येक देश के साहित्य में पाई जाती हैं।

हिंदी का शब्द-समूह

यद्यपि हमारे शब्द-समुदाय के सम्बन्ध में यह बात अनेक बार कही जा चुकी है कि यह अत्यधिक काव्योपयोगी है, परन्तु साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि इसमें क्रियाओं के सूक्ष्म विभेदों तथा अनेक वस्तुओं के आकार-प्रकार तथा रूप-रंग-सम्बन्धी छोटे-छोटे अंतरों को व्यंजित करने की क्षमता अपेक्षाकृत कम है। सूर्य, चंद्रमा, वायु, मेघ तथा कमल आदि कवि-हृदयों को स्पर्श करनेवाली वस्तुओं के अनेक पर्याय-वाची शब्द हैं, जिससे उनके समयोचित उपयोग में बड़ी सुगमता होती है और जिससे काव्य में विशेष चमत्कार आ जाता है। परंतु हरीतिमा के अनेक भेदों अथवा पक्षियों के उड़ने के अनेक स्वरूपों के व्यंजक शब्द हिंदी में उतने नहीं मिलते। खड़ी बोली में तो क्रियापदों का अभाव इतना खटकता है कि हम प्रचलित व्याकरण के कुछ नियमों को शिथिल कर नवीन क्रियाएँ गढ़ लेने तक का विचार करने लगे हैं और "सरसाना" "विकसाना" आदि ब्रजभाषा के रूपों को भी खड़ी बोली में लेने लगे हैं। हिंदी में भावों के अनुरूप भाषा लिखने का तो पर्याप्त सुभीता है, परंतु प्रत्येक शब्द में भावानुरूपता ढूँढ़ना मेरे विचार में भाषा-शास्त्र के नियमों के प्रतिकूल होगा। संस्कृत के स्त्रीलिंग 'देवता' को हिंदी में पुल्लिंग बनाकर शब्द की भावात्मकता की रक्षा अवश्य हुई है, पर यह तो केवल एक उदाहरण है। इसके विपरीत संस्कृत के "कर्म" तथा "कार्य" को हिंदी में "काम" या "काज" बनाकर कर्म की स्वाभा-विकता, कठोरता तथा कार्य की सच्ची गुरुता भुला दी गई है। कभी-कभी तो हम अपने स्वभाव वैषम्य के कारण शब्दों की सार्थकता का व्यर्थ विरोध करते हैं। प्रातःकालीन सुषमा की सच्ची द्योतकता "उषा" शब्द में है।

हमारे प्राचीन ऋषियों ने उस सुषमा पर मुग्ध होकर उसे देवीत्व तक प्रदान किया था और वह "सरस्वती" के समकक्ष समझी गई थी। उषा के उपरांत जब सुषुप्त संसार जागकर कर्मक्षेत्र में प्रवेश करता है और जब समस्त स्थावर-जंगम पदार्थ चैतन्य तथा कर्मण्य हो उठते हैं, उस समय के द्योतक 'प्रभात' शब्द की कल्पना स्त्रीलिंग में करना हमारी अपनी दुर्बलता कहलाएगी, "प्रभात" के पुरुषत्व में उससे कुछ भी अन्तर न पड़ेगा। हमारे यह सब कहने का तात्पर्य यही है कि यद्यपि हिंदी का शब्दकोश बहुत कुछ काव्योपयोगी हैं, तथापि उसमें कुछ त्रुटियाँ भी हैं। कभी-कभी उसकी त्रुटियाँ बहुत-कुछ बढ़ा-चढ़ाकर कही जाती हैं और भाषा के विकासक्रम की अवहेलना कर उसकी जाँच अपने वैयक्तिक विचारों के आधार पर होती है। यदि ऐसा न हुआ करे तो हिंदी के शब्दों में भावानुरूपता की योग्यता संतोषजनक परिमाण में प्रतिष्ठित हो सकती है।

हिंदी में भारतीय संगीत

भारतीय संगीत की सबसे प्रधान विशेषता यह है कि उसमें स्वरों तथा लय का सामंजस्य स्थापित किया गया है। यूरोपीय संगीत में लय पर अधिक ध्यान दिया गया है और स्वरों के सामंजस्य या राग की बहुत कुछ अवहेलना की गई है। इस देश में अत्यन्त प्राचीन काल से संगीत की उन्नति होती आई है और अनेक संगीतशास्त्रीय ग्रन्थों का निर्माण भी होता आया है। यहाँ जैसे काव्य से धर्म, अर्थ और काम के साथ मोक्ष-फल की भी प्राप्ति मानी गई है उसी प्रकार संगीत से भी। इस दृष्टि से संगीत के 'मार्ग' और 'देशी' नामक दो भेद किए हैं और 'मार्ग' को विमुक्तिप्रद तथा 'देशी' को लोकानुरंजन बतलाया गया है। यहाँ का प्राचीन संगीत यद्यपि अपने शुद्ध रूप में अब तक मिलता है, परन्तु विदेशीय प्रभावों तथा अनेक देशभेदों के फल-स्वरूप उसकी 'देशी' नामक शाखा का भी निरंतर विकास होता रहा। (देशे देशे तु संगीतं

देशीयं तद् विधीयते) हिंदी साहित्य के विकास काल में "देशी" संगीत प्रचलित हो चुका था, अतः उसमें 'देशी' संगीत का बहुत कुछ पुट पाया जाता है। इसके अतिरिक्त रागों और रागनियों के अनेक भेदों का ठीक-ठीक अभिव्यंजन करने की क्षमता जितनी हिंदी ने दिखलाई, साथ ही जितने सुचारु रूप में संगीत के अन्य अवयवों का विकास उसमें हुआ है, उतना अन्य किसी प्रांतीय भाषा में नहीं हुआ है।

हिंदी के दो अन्य महत्वपूर्ण विशेषताएँ

हमारे साहित्य पर उपर्युक्त जातिगत तथा देशगत प्रवृत्तियों का प्रभाव बहुत कुछ स्थायी है। इनके अतिरिक्त दो-एक अन्य प्रासंगिक बातें हैं जिनका हिंदी-साहित्य के विकास से घनिष्ठ संबंध रहा है तथा जिनकी छाप हिंदी साहित्य पर स्थायी नहीं तो चिरकालिक अवश्य है। पहली बात यह है कि हिंदी-साहित्य के प्रारंभिक युग के पहले ही संस्कृत साहित्य उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचकर अधःपतित होने लगा था। जीवित साहित्यों में नवीन-नवीन रचना-प्रणालियों के आविर्भाव तथा अन्य अभिनव उद्भावनाओं की जो प्रकृति होती है, उसका संस्कृत में अभाव हो चला था। अनेक रीति-ग्रन्थों का निर्माण हो जाने के कारण साहित्य में गतिशीलता रह ही नहीं गई थी। नियमों का साम्राज्य उसमें विराज रहा था, उनका उल्लंघन करना तत्कालीन साहित्यकारों के लिए असंभव-सा था। ये नियम भी ऐसे-वैसे न थे, वे बहुत ही कठोर तथा कहीं-कहीं बहुत ही अस्वाभाविक थे। इन्हीं के फेर में पड़कर साहित्य की स्वाभाविक प्रगति रुक-सी गई थी और तत्कालीन संस्कृत में जीवन की गति तथा उल्लास नाम-मात्र को भी नहीं रह गया था। संस्कृत कविता अलंकारों से लदी हुई जीवन-हीन कामिनी की भाँति निष्प्रभ तथा निस्सार हो चुकी थी। हिंदी के स्वतंत्र विकास में संस्कृत के इस स्वरूप ने बड़ी-बड़ी रुकावटें डालीं। एक तो इसके परिणाम-स्वरूप हिंदी-काव्य का क्षेत्र बहुत-कुछ परिमित हो गया, और दूसरे हिंदी भाषा भी स्वाभाविक रूप से विकसित न होकर

बहुत दिनों तक अव्यवस्थित बनी रही। यदि हिंदी के भक्त कवियों ने अपनी प्रतिभा के बल से उपर्युक्त दुष्परिणामों को निवारण करने की सफल चेष्टा न की होती तो हिंदी की आज कैसी स्थिति होती, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। खेद है कि भक्त कवियों की परम्परा के समाप्त होते ही हिन्दी के कवि फिर संस्कृत साहित्य के पिछले स्वरूप से प्रभावान्वित होकर उसका अनुसरण करने लगे, जिसके फल-स्वरूप भाषा में सरलता तथा प्रौढ़ता आ गई परंतु भावों की नवीनता तथा मौलिकता बहुत-कुछ जाती रही।

ध्यान देने की दूसरी बात यह है कि हिन्दी-साहित्य का सम्पूर्ण युग अशांति, निराशा तथा पराधीनता का युग रहा है। हिंदी के प्रारंभिक काल में देश स्वतंत्र अवश्य था परंतु उस समय तक उसकी स्वतंत्रता में बाधाएँ पड़ने लग गई थीं और उसके सम्मुख आत्मरक्षा का कठिन प्रश्न उपस्थित हो चुका था। देश के लिए वह हलचल तथा अशांति का युग था। उसके उपरान्त वह युग भी आया जिसमें देश की स्वतन्त्रता नष्ट हो गई और इसके अधिकांश भाग में विदेशीय तथा विजातीय शासन की प्रतिष्ठा हो गई। तब से बहुत दिनों तक थोड़े बहुत अन्तर से वैसी ही परिस्थिति बनी रही। हमारे सम्पूर्ण साहित्य में करुणा की जो एक हल्की सी अन्तर्धारा व्याप्त मिलती है वह इसी के परिणाम-स्वरूप है। पुरानी हिंदी के समस्त साहित्य में नाटकों, उपन्यासों तथा अन्य मनोरंजक साहित्यांगों का जो अभाव दिखाई देता है, वह भी बहुत-कुछ इसी कारण से है। केवल कविता में ही जनता की स्थायी भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई और वही उनका इतिहास हुआ। सामाजिक मनोरंजन के एक प्रमुख साधन नाटक रचना का विधान भी न किया जा सका। देश की परतंत्रता सर्वतोमुखी साहित्यिक उन्नति में बाधक ही सिद्ध हुई।

प्रगतिशील अंश

अब तक जो कुछ कहा गया है उससे हिंदी-साहित्य का स्वरूप समझने में थोड़ी बहुत सहायता मिल सकती है, यदि अधिक नहीं तो

उसकी कुछ स्थायी विशेषताओं का ही ज्ञान हो सकता है। परन्तु केवल कुछ विशेषताओं के प्रदर्शन से, साहित्य की आंशिक झलक दिखा देने से ही, साहित्य का ज्ञान पूरा नहीं हो सकता। उपर्युक्त बातें तो केवल एक सीमा तक उसके उद्देश्य की पूर्ति करती हैं किसी साहित्य का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए केवल उस साहित्य की जातिगत या देशगत प्रवृत्तियों को ही जानना आवश्यक नहीं होता, वरन् विभिन्न कालों में उसकी कैसी अवस्था रही, देश के सामाजिक, धार्मिक तथा कला-कौशल-सम्बन्धी आंदोलन के उस पर कैसे-कैसे प्रभाव पड़े, किन-किन व्यक्तियों की प्रतिभा ने उसकी कितनी और कैसी उन्नति की, ऐसी अनेक बातों का जानना भी अनिवार्य होता है। ऊपर के विवेचन में साहित्य के जिस अंग पर प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है, वह प्रायः उसका स्थिर अंग है, परंतु उसका प्रगतिशील अंग भी होता है और यह प्रगतिशील अंग ही विशेष महत्त्वपूर्ण होता है। समय परिवर्तनशील है और समय के साथ देश तथा जाति की स्थिति भी बदलती रहती है। जनता के इसी स्थिति-परिवर्तन के साथ उसकी चित्तवृत्तियाँ भी और की और हो जाती हैं और साथ ही साहित्य भी अपना स्वरूप बदलता चलता है। हिंदी साहित्य की भी बहुत कुछ ऐसी ही अवस्था रही है। देश के महत्त्वपूर्ण सामाजिक, राजनीतिक, सांप्रदायिक आदि आंदोलनों से उसके स्वरूप में बड़े-बड़े परिवर्तन उपस्थित हुए हैं और कभी-कभी तो उसकी अवस्था बिलकुल और की और हो गई है।

आधुनिक युग में मार्क्सवाद, साम्यवाद, समाजवाद, गांधीवाद आदि अनेक वादों ने सामाजिक परिस्थिति एवं दृष्टिकोण में जो परिवर्तन उपस्थित किए हैं उनका प्रभाव साहित्य पर भी स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। मजदूर और किसान के अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और अध्ययन के आधार पर गद्य और पद्य में रचनाओं का बाहुल्य हुआ है।

———

कङ्कड़-स्तोत्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

कङ्कड़ देव को प्रणाम है। देव नहीं महादेव क्योंकि काशी के कङ्कड़ शिवशंकर समान है ॥१॥

हे कङ्कड़ समूह! आजकल आप नई सड़क से दुर्गाजी तक बराबर छाये हो इससे काशी खण्ड "तिले तिले" सच हो गया, अतएव तुम्हें प्रणाम है ॥२॥

हे लीलाकारिन्! आप केशी, शकट, वृषभ, खरादि के नाशक हो इससे मानो पूर्वार्द्ध की कथा हो अतएव व्यासों की जीविका हो ॥३॥

आप सिर-समूह-भंजन हो क्योंकि कीचड़ में लोग आप पर मुँह के बल गिरते हैं ॥

आप पिष्ट पशु की व्यवस्था हो क्योंकि लोग आप की कढ़ी बनाकर आप को चूसते हैं ॥

आप पृथ्वी के अन्तर्गर्भ से उत्पन्न हो॰ संसार के गृह-निर्माण मात्र के कारणभूत हो॰ जल कर भी सफेद होते हो॰ दुष्टों के तिलक हो॰ ऐसे अनेक कारण हैं जिस से आप नमस्करणीय हो॰ ॥४॥

हे सुन्दरी-सिङ्गार! आप बड़ी के बड़े हो क्योंकि चूना पान की लाली का कारण है और पान रमणीगण के मुखशोभा का हेतु है इससे आपको प्रणाम है ॥५॥

हे चुङ्गी-नन्दन ! ऐन सावन में आप को हरियाली सूझी है क्योंकि दुर्गाजी पर इसी महीने से भीड़ विशेष होती है तो हे हठमूर्ते तुम को दण्डवत है ॥६॥

हे प्रबुद्ध ! आप शुद्ध हिन्दू हौ क्यों कि शहर विरुद्ध हौ० आब आया और आप न बर्खास्त हुए इस से आप को सलाम है ॥७॥

हे स्वेच्छाचारिन् ! इधर-उधर जहाँ आपने चाहा अपने को फैलाया है० कहीं पटरी के पास पड़े हो ! कहीं बीच में अड़े हौ अतएव हे स्वतंत्र० आप को नमस्कार है ॥८॥

हे ऊभड़-खाभड़-शब्द-सार्थ-कर्त्ता ! आप कोणमिति के नाशकारी हो क्योंकि आप अनेक विचित्र-कोण-सम्बलित हौ अतएव हे ज्योतिषारि ! आप को नमस्कार है ॥९॥

हे शस्त्रसमष्टि ! आप गोली, गोला के चचा, छर्रों के परदादा, तीर के फल, तलवार की धार और गदा के गोला हौ इस से आप को प्रणाम है ॥१०॥

आहा ! जब पानी बरसता है तब सड़क रूपी नदी में आप द्वीप से दर्शन देते हौ इससे आप के नमस्कार में सब भूमि को नमस्कार हो जाता है ॥११॥

आप अनेकों के वृद्धतर प्रपितामह हौ क्योंकि ब्रह्मा का नाम पितामह है, उनका पिता पङ्कज है, उसका पङ्क है और आप उसके भी जनक हौ इस से आप पूजनीयों में एल एल डी हौ ॥१२॥

हे जोगा जिवलाल रामलालादि मिस्त्री-समूह-जीविका दायक ! आप कमानी-भञ्जक, धुरी-विनाशक, बारनिश-चूर्णक हौ० केवल गाड़ी ही नहीं घोड़े की नाल, सुम, बैल के खुर और कटक-चूर्ण को भी आप चूर्ण करने वाले हौ इस से आप को नमस्कार है ॥१३॥

आप में सब जातियों और आश्रमों का निवास है० आप वानप्रस्थ हौ क्योंकि जङ्गलों में लुड़कते हौ० ब्रह्मचारी हौ क्योंकि बटु हौ० गृहस्थ

हौ चूना रूप से, संन्यासी हौ क्योंकि शुद्धमबुद्ध हौ० ब्राह्मण हौ क्योंकि प्रथमवर्ण होकर भी गली-गली मारे-मारे फिरते हौ० छत्री हौ क्योंकि छत्रियों की एक जाति हौ० वैश्य हौ क्योंकि कांटा बांटा दोनों तुम में है० शूद्र हौ क्योंकि चरण-सेवा करते हौ० कायस्थ हौ क्योंकि एक तो ककार का मेल, दूसरे कचहरी पथावरोधक, तीसरे छत्रियत्व हम आप का सिद्ध कर ही चुके हैं० इससे सर्ववर्णस्वरूप तुमको नमस्कार है। १४ ॥

आप ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य, अग्नि, जम, काल, दच्छ और वायु के कर्ता हौ, मन्मथ के ध्वजा हौ, राजा-पद-दायक हौ, तन-मन-धन के कारण हौ, प्रकाश के मूल शब्द की जड़ और जल के जनक हो, वरञ्च भोजन के भी स्वादु कारण हौ क्योंकि आदि व्यंजन के भी बाबाजान हौ इसी से हे कङ्कड़ तुमको प्रणाम है ॥ १६ ॥

आप अंग्रेजी राज्य में श्रीमती विक्टोरिया और पार्लमेंट सभा के आज्ञत प्रबल-प्रताप श्रीयुत गवर्नर जनरल और लेफ्टेएट गवर्नर के वर्त्तमान होते, साहिब कमिश्नर, साहिब मेजिस्ट्रेट और साहिब सुपरइन-टेण्डेण्ड के इसी नगरी में रहते और साढ़े तीन तीन हाथ के पुलिस इंस्पेक्टरों और कानिस्टिबिलों के जीते जी श्रीगणेशचतुर्थी की रात को स्वच्छन्द रूप से नगर में भड़ाभड़ लोगों के सिर पर पड़कर रुधिरधारा से नियम और शान्ति का अस्तित्व बहा देते हौ अतएव हे अङ्गरेजी राज्य में नवाबी-स्थापक ! तुमको नमस्कार है !!

यह लम्बा-चौड़ा स्तोत्र पढ़कर हम बिनती करते हैं कि आप सफेद सिकन्दरी बाना छोड़ो या हटो या पिटो ॥ १७ ॥

इति श्री कङ्कड़ स्तोत्र समाप्त

स्वर्गीय प्रो० पूर्णसिंह

पद्मसिंह शर्मा

उस दिन डाक में आए हुए समाचार पत्र देख रहा था। १२ अप्रैल के दैनिक 'हिन्दी-मिलाप' में एक नोट पर नजर पड़ी, 'स्वर्गीय प्रो० पूर्णसिंह'। नोट पढ़ कर पर्चा रख दिया। दूसरे अखबार देखने लगा। कुछ देर बाद कुछ ध्यान आया और 'मिलाप' का वह अंक निकाल कर ध्यान से पढ़ा। पहली बार सरसरी तौर पर पढ़ने पर 'सम्पूरण सिंह' इस नये नाम के शीर्षक के कारण बात समझ में न आई थी। जब समझा तो चित्त पर एक चोट लगी। प्रो० पूर्णसिंह का चित्र और चरित्र आँखों के सामने फिर गया। हृदय की एक विचित्र दशा हो गई। प्रो० पूर्णसिंह के संबंध की बहुत सी बातें याद आने लगीं। सन् १९०९ की बात है, प्रो० पूर्णसिंह देहरादून के फारेस्ट कालेज में इम्पीरियल फारेस्ट कैमिस्ट के पद पर थे। वहीं उनसे परिचय हुआ था।

उन दिनों 'सरस्वती'—सम्पादक श्रद्धेय पं० महावीर प्रसादजी द्विवेदी स्वास्थ्य-सम्पादनार्थ मेरे आग्रह और अनुरोध पर ज्वालापुर महाविद्यालय में आकर एक मास के लगभग ठहरे थे। एक दिन देहरादून जाने का प्रोग्राम बना। द्विवेदीजी और मैं, दोपहर बाद की गाड़ी से २ बजे के करीब देहरादून पहुँचे। देहरादून की इस यात्रा का उद्देश्य प्रो० पूर्णसिंह

जी से मिलना भी था। आर्यसमाज मंदिर में असबाब रखकर हम लोग पूर्णसिंह से मिलने उनके बंगले की ओर चले। बंगले के पास पहुँच कर पचास कदम की दूरी से देखा कि प्रो० साहब अपने बंगले की ओर धीर गति से जा रहे हैं। हम अभी कुछ फासले पर थे। पूर्णसिंह जी अपने बंगले के दरवाजे पर पहुँच चुके थे, इतने में ही उनके बंगले से एक काषायवेशधारी साधु आता दिखाई पड़ा। साधु जल्दी-जल्दी कुछ बड़बड़ाता हुआ आ रहा था। बंगले के दरवाजे पर प्रो० साहब और साधु का सामना हो गया। प्रो० साहब साधु से कुछ सुनकर आवेश की सी दशा में आ गए। साधु को बंगले की ओर लौटाने का आग्रह करने लगे। साधु क्रोध में था, और लौटना न चाहता था और पूर्णसिंह उससे लिपट रहे थे और मना रहे थे। हम यह तमाशा देख कर बंगले की ओर जल्दी-जल्दी बढ़े। जब पास पहुँचे, तो पूर्णसिंह जी होश में न थे, जमीन पर लोट रहे थे। कोट के बटन तोड़ दिये थे, साफा दूर पड़ा था। यह विचित्र दशा देख कर हम घबरा गए। कुछ भेद समझ में न आया, वह साधु भी कुछ चकित सा क्रोध मुद्रा में पास ही खड़ा था।

मैंने पूर्णसिंह को उठाने और होश में लाने की चेष्टा की। कुछ देर तक वह उसी दशा में पड़े रहे। मैंने उन्हें झँझोड़कर कहा—'उठिए, आपसे मिलने द्विवेदी जी आए हैं', उन्होंने अबतक हमें पहचाना न था। उन्हें खयाल तक न था कि हम उनके पास खड़े हैं। अब उन्हें कुछ होश आया और एकदम घबराकर उठ बैठे। हाथ मिला कर बोले,—'आप कब आए?' फिर द्विवेदी जी की ओर झुके, प्रणामकर कहा—'मुझे मालूम न था कि आप मुझसे मिलने आ रहे हैं। मैं इस समय आपे में न था, आत्मस्मृति की अवस्था में पहुँच गया था।' यह कहते हुए और हम लोगों को साथ लिए बंगले में पहुँचे। बैठ कर बातें होने लगीं। मैंने पूछा—'यह क्या बात थी।' कहने लगे 'कुछ नहीं। यह साधु जी आए, मैं घर पर न था। किसी ने इनका उचित सत्कार न

किया, कुछ कह दिया। यह अपमान से खिन्न होकर जा रहे थे। इससे मेरे हृदय पर बड़ी वेदना पहुँची। किसी गृहस्थ के घर से कोई अभ्यागत साधु इस प्रकार खिन्न होकर लौटे, यह मुझे सह्य नहीं!' साधु महराज भी लौट आए थे। पास बैठे हुए उफन रहे थे। उनका रोष अब भी पूरी तरह शान्त न हुआ था। चेहरे का रंग कपड़ों से भी ज्यादा लाल हो रहा था।

साधु की इस उद्दण्डता और धूर्तता पर मैं मन ही मन उसे धिक्कार रहा था। श्री द्विवेदीजी को भी उस पर क्रोध आ रहा था। वे उसकी खुलकर भर्त्सना करना चाहते थे। साधु के क्रुद्ध होने के कारण जब मालूम हुआ तो हमें उस पर और क्रोध आया। बात कुछ भी न थी। यह साधु अकसर पूर्णसिंह जी के यहाँ आया करते थे और नरमचारा कर जाते थे। पूर्णसिंह जी को साधुओं पर बड़ी आस्था थी और श्रद्धा थी। उन दिनों उन्हें पाँच-सौ से अधिक वेतन मिलता था, जिसका अधिकांश साधु-महात्मा लोग ही उड़ा जाते थे। उस दिन जो यह साधु आए, तो पूर्णसिंह जी अभी दफ्तर से नहीं लौटे थे। प्रोफेसर साहब के पिताजी भी यहीं आए हुए थे। उन्हें इन साधुओं में कुछ ऐसी श्रद्धा न थी। पूर्णसिंह की साध्वी पत्नी बाल-बच्चों को लिए हुए किसी और काम में लगी थीं, उन्हें इन दुर्वासा साधु के आने की खबर न थी। प्रोफेसर साहब के पिता जी ने इनका कुछ सत्कार न किया। बस, यही अपराध था, जिस पर साधुजी बिगड़ उठे थे। यह सब किस्सा सुनकर मैंने और द्विवेदी जी ने साधु को फटकार बताई और प्रोफेसर साहब अब भी अपने को दोषी समझ रहे थे। उनकी पतिप्राणा पत्नी भी अपने अपराध के लिए क्षमा मांग रही थीं। कुछ हमारी फटकार से, कुछ इस अनुनय-विनय से, साधु के क्रोधज्वर का टेम्परेचर नार्मल हुआ और खिसियाने होकर चले गए।

द्विवेदीजी को प्रोफेसर साहब से मिलने का शायद यह पहला ही मौका था। कुछ देर बैठ कर हम लोग चले आए। इस घटना का

द्विवेदी जी के कोमल और भावुक चित्त पर बड़ा ही प्रभाव पड़ा और उन्हें जब यह मालूम हुआ कि वह देवी प्रोफेसर साहब की पत्नी हैं तो उनके आश्चर्य की सीमा न रही। कहने लगे, मैं तो यह समझ रहा था कि यह स्त्री प्रोफेसर साहब के बच्चों की धाय और परिचारिका हैं।' प्रोफेसर साहब के घर का सब काम—बच्चों को खिलाना, रोटी बनाना, आनेवाले अभ्यागत साधुओं का सत्कार करना, उनकी सेवा-सुश्रूषा, उनकी पत्नी अपने ही हाथों से करती थीं। कोई दासी न थी। यह जानकर द्विवेदी जी गद्‌गद हो गए, और प्रोफेसर साहब तथा उनकी पत्नी की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। ऐसा विद्वान् और एक उच्च पदाधिकारी सज्जन ऐसी सादगी से जीवन व्यतीत करता है।

इस अपृष्टपूर्व घटना का द्विवेदी जी पर बड़ा स्थायी प्रभाव हुआ, जिसकी चर्चा देहरादून से लौटने पर भी बार-बार करते रहे।

प्रो० पूर्णसिंह बड़े ही सहृदय, भावुक और उदार व्यक्ति थे। उनका घर अभ्यागतों की शाला थी। मिलनेवालों का ताँता लगा रहता था। कई सज्जनों की वे स्थायी रूप से सहायता करते थे। साधुओं के लिए तो वे कामधेनु ही थे जो उन्हें हमेशा दुहते थे। उनका सब वेतन इन्हीं कामों में खर्च होता था। प्रो० पूर्णसिंह स्वामी रामतीर्थ जी महाराज के प्रधान और अंतरंग शिष्य थे। स्वामी रामतीर्थ की तरह वेदान्ती की मस्ती उनपर हमेशा छाई रहती थी। वेदान्त-विषयक चर्चा करते समय उनकी वाणी में अपूर्व तेज और प्रवाह आ जाता था, तल्लीनता की दशा में झूमने लगते थे। एक बार ज्वालापुर महाविद्यालय में आये हुए थे। मैंने उनसे कहा 'आज व्याख्यान सुनाइए।' कुछ इधर-उधर की बातों के बाद बातों ही बातों में वेदान्त का प्रसंग छिड़ गया। हम चार-पाँच आदमी थे जो उस समय उनके पास बैठे थे। उन्होंने वेदान्त पर कहना शुरू किया। कोई एक घंटे तक बड़े ही हृदयग्राही और प्रभावोत्पादक प्रकार से मस्ती में झूमझूमकर वर्णन करते रहे। बातों का सिलसिला खत्म करते हुए

बोले "लो व्याख्यान हो गया। ऐसे व्याख्यान भीड़ में नहीं हुआ करते, यह तो कहने-सुनने की बातें हैं।"

बात सचमुच ऐसी ही है। वह उनका बातचीत का व्याख्यान बड़ा ही अद्भुत था। उन चार-पाँच श्रोताओं में स्वर्गीय पं० भीमसेन शर्मा भी थे। वे भी सुनकर दंग रह गए और कहने लगे व्याख्यान लिखा दीजिए। भारतोदय में प्रकाशित हो जायगा। प्रोफेसर साहब कहने लगे– "अब किसे याद है, रटा-रटाया पेटेन्ट व्याख्यान तो था नहीं, न मालूम जोश में क्या-क्या कह गया हूँ। उसी वक्त कोई लिखता जाता, तो हो सकता था" पर लिखने का होस उस समय किसे था? उस व्याख्यान की बातें याद नहीं रहीं, पर उसकी धुँधुली-सी स्मृति भी हृदय में अनिर्वचनीय आनन्द का स्रोत-सा बहा देती है। उन दिनों प्रो० पूर्णसिंह पर रामतीर्थ के वेदान्त की मस्ती का बड़ा गहरा रंग चढ़ा था। उस रंग में वे शराबोर थे। उनके आचार-विचार और व्यवहार में वही रंग झलकता था। वे उस समय स्वामी रामतीर्थ के सच्चे प्रतिनिधि प्रतीत होते थे। खेद है आगे चलकर घटनाचक्र में पड़कर वह रंग एक दूसरे रंग में बदल गया। देहली-षड्यन्त्र के उस मुकदमे में, जिसमें मास्टर अमीरचन्द को फाँसी की सजा हो गई थी, सबूत या सफाई में पूर्णसिंह की भी तलबी हुई। मास्टर अमीरचन्द स्वामी रामतीर्थ के अनुयायी भक्त थे। उन्होंने स्वामी रामतीर्थ महाराज की कुछ पुस्तकें भी प्रकाशित कराई थीं। इस हिसाब से वह पूर्णसिंह के गुरु भाई थे। देहली में कभी-कभी उनके यहाँ जाकर ठहरते भी थे, उस मुकदमे में प्रो० साहब की तलबी का यही कारण था।

उस समय देश की दशा कुछ और थी और वह मुकदमा भी बड़ा भयानक था। बहुत से निरपराध लोग भी उसकी लपेट में आ गए थे। प्रो० पूर्णसिंह के फँसने की भी शायद संभावना थी या नौकरी छूटने का डर था। यह देखकर प्रो० पूर्णसिंह के आत्मीय और मिलनेवाले, जिनमें

सिक्ख सम्प्रदाय के सज्जनों की संख्या अधिक थी—घबरा गए। उन्होंने प्रो० पूर्णसिंह पर जोर डाला कि ये मास्टर अमीरचन्द और स्वामी रामतीर्थ से अपना किसी प्रकार का सम्बन्ध स्वीकार न करें। मजबूर होकर प्रो० पूर्णसिंह को यही करना पड़ा। उन्होंने अदालत में ऐसा ही बयान दिया कि स्वामी रामतीर्थ से या उनके शिष्यों से मेरा किसी प्रकार का भी संबंध नहीं है। इस प्रकार प्रो० पूर्णसिंह उस मुकदमे की आँच से तो बच गए, पर उनके विचारों की हत्या हो गई। स्वामी रामतीर्थ के वेदान्त के सिद्धान्त से उनका संबंध सदा के लिए छूट गया। प्रो० पूर्णसिंह को वैसा बयान देने के लिए मजबूर करनेवालों में एक सिक्ख साधु भी थे। उनकी संगति और शिक्षा ने पूर्णसिंह की काया ही पलट दी। उन्होंने सब प्रकार से उस सिक्ख साधु को आत्म समर्पण कर दिया, उसी रंग में रँग गए।

जो कुछ वह कहता, वही करते, स्याह-सफेद का वही मालिक था। पूर्णसिंह उसके हाथ के खिलौने थे। इस दशा में मैं उनसे एक बार मिला, तो इस दशा-विपर्य को देख कर बड़ा ही आश्चर्य और खेद भी हुआ। पूर्णसिंह की मिलनसारी इस दशा में भी वैसी ही थी। बड़े प्रेम से मिले, पर बातों में वह मस्ती न थी। जिन्होंने पूर्णसिंह को पहले देखा था उन्हें इनका यह नवीन रूप किसी बृहत् पुस्तक का भाषान्तर का संस्करण प्रतीत होता था। प्रायः देखा गया है कि अधिक संवेदनाशील और भावुक पुरुष जिधर झुकते हैं हद तक पहुँच जाते हैं। अत्यधिक श्रद्धाशीलता भी कभी-कभी मनुष्य के लिए संकट का हेतु हो जाती है। यही पूर्णसिंह के अनिष्ट का कारण बनी। देहरादून में उन्हें सात सौ रुपये वेतन मिलने लगा था, जो यों ही उड़ जाता था। उन्हें इसकी जरा भी पर्वाह न थी। पूर्णसिंह अपने विषय के भी पूर्ण पंडित थे। उन्होंने एक आविष्कार भी किया था। अपने अँग्रेज अफसर से उनकी अनबन थी। पूर्णसिंह जैसे मनस्वी आदमी को आले अफसर का

अविवेक जब असह्य हो गया, तब वे इस्तीफा देकर ग्वालियर स्टेट चले गए।

देहरा छोड़ने के कई वर्ष बाद तक कुछ पता न लगा कि वे कहाँ हैं। एक बार अचानक ग्वालियर से उनकी चिट्ठी आई कि मैं अपने लेखों का संग्रह प्रकाशित करना चाहता हूँ और इसमें आपकी सहायता चाहता हूँ, आप इसमें सहायता कीजिए। लेखों का संपादन और संग्रह करके किसी अच्छे प्रेस में छपाने का प्रबंध कर दीजिए। संवत् १९६६ में विक्रमी के भारतोदय की अगहन-पौष की संख्या में उनका 'पवित्रता' शीर्षक एक सुन्दर लेख प्रकाशित हुआ था, उसमें अनुवाद की और प्रेस की कुछ अशुद्धियाँ रह गई थीं।

प्रो० पूर्णसिंह की भाषा बड़ी प्रभावशाली और प्रवाहयुक्त होती थी। भावों का तो कहना ही क्या है। मालूम होता था कि साक्षात् स्वामी रामतीर्थ की पवित्र वाणी सुन रहे हैं। पर नागराक्षरों में उन्हें हिंदी लिखने का उतना अच्छा अभ्यास न था। लेख उर्दू या अंग्रेजी में लिखते थे। अंग्रेजी के वे धुरन्धर लेखक थे। 'भारतोदय' में मुद्रित उनका यह लेख उर्दू से उल्था किया गया था। अनुवाद अच्छा न हुआ। उस लेख को मैं देख न सका था। मेरी अनुपस्थिति में वह अनुवाद होकर छपा था। लेख बहुत बड़ा था, उसका पूर्वार्द्ध ही छप सका था सो भी विशुद्ध न छप सका था, इसकी पूर्णसिंह जी को बड़ी शिकायत रही। उनका एक लेख 'सरस्वती' में भी प्रकाशित हुआ था। सरस्वती को वह संख्या भी उनके पास न थी, उसका पता भी मुझसे पूछा था।

कुछ दिनों बाद उनका एक पत्र पंजाब से आया, जिसमें ग्वालियर छोड़कर—पंजाब के जड़ावाला में अपना स्वतंत्र कृषि-कार्य प्रारम्भ करने की सूचना दी थी। उसके बाद पूर्णसिंह का कुछ समाचार न मिला था। अब अचानक उनके परलोक-प्रयाण का दुःखद वृत्तांत "हिंदी मिलाप" में पढ़ा। "मिलाप" का वह नोट इस प्रकार है :—

लाहौर, ७ अप्रैल ।

प्रो० प्रीतमसिंह लिखते हैं कि "सरदार पूर्णसिंह जी की मृत्यु से सिक्ख जाति की भारी हानि हुई है। वे पंजाबी (गुरुमुखी) और इङ्गलिश के उच्चकोटि के लेखक थे। प्रो० पूर्णसिंह का जन्म सन् १८८१ में ऐबटाबाद में हुआ था। प्रो० पूर्णसिंह ने 'टोकियो' (जापान) की---इम्पीरियल यूनिवर्सिटी में सन् १६०० से १६०३ तक कैमिस्ट्री की शिक्षा प्राप्त की थी। वहाँ वे स्वामी रामतीर्थ से मिले और वेदान्ती हो गए। सन् १६०४ में जब वे भारत लौटे, तो उनमें भारी परिवर्तन था। इसके बाद वे देहरादून में इम्पीरियल फारेस्ट केमिस्ट के पद पर नियुक्त हुए, वहाँ से रिटायर्ड होकर वे ग्वालियर चले गए। इसके बाद उन्होंने जाड़ाँवाला में अपना कृषिकार्य आरम्भ किया। उन्होंने कई पुस्तकें लिखी हैं जो देश-विदेश में सम्मान से पढ़ी जाती हैं।"

प्रो० प्रीतमसिंह जी उनकी मृत्यु से केवल सिक्ख जाति की हानि हुई बतलाते हैं। पर यह विचार तो बहुत ही संकुचित है। प्रो० पूर्णसिंह सिक्ख जाति के ही नहीं, संपूर्ण देश के एक पुरुषरत्न थे। उनकी मृत्यु से सहृदय पुरुष मात्र की, चाहे वह किसी जाति का क्यों न हो, भारी हानि हुई है। प्रो० पूर्णसिंह केवल पंजाबी और इंगलिश के ही उच्चकोटि के लेखक न थे, वे हिन्दी-उर्दू के भी अद्भुत लेखक थे। उनके एक ही लेख ने हिन्दी-संसार को चौंका दिया। सन् १६०६ के अक्टूबर की सरस्वती में उनका पहला लेख प्रकाशित हुआ था जिसका शीर्षक 'कन्या-दान' था और जिसका दूसरा नाम 'नयनों की गंगा' है। इस लेख की उस समय धूम मच गई थी। यह लेख सचमुच ही नयनों की गंगा ही है। इसे पढ़कर पाषाण हृदय भी पिघल उठते हैं। इस विषय का ऐसा लेख हिन्दी में आजतक दूसरा नहीं है। केवल इसी एक लेख के आधार पर हिन्दी इतिहास के एक लेखक ने प्रो० पूर्णसिंह का हिन्दी-गद्य लेखकों में एक विशेष स्थान माना है, जो बिलकुल यथार्थ है। वह एक लेख ही प्रो०

पूर्णसिंह के नाम को साहित्य-सेवियों में अमर रखने के लिए पर्याप्त है। हिन्दी-गद्य के अनेक वृथा-पुष्ट पोथों से वह एक लेख अधिक मूल्यवान् है। 'भारतोदय' में जो उनका 'पवित्रता' शीर्षक लेख छपा वह भी अपने ढंग का निराला ही है। हिन्दीवालों को चाहिए वह उनके लेखों के संग्रह-प्रकाशन का उचित प्रबन्ध करके अपनी कृतज्ञता प्रकट करें।

प्रो० पूर्णसिंह भावुकता और प्रेम की मूर्ति थे। जब मिलते थे गद्गद हो जाते थे, आँखों में जल झलकने लगता था, हार्दिक उल्लास की हद न रहती थी। एक मनोरंजक घटना अक्सर याद आ जाती है।

एक दफा मैं देहरादून गया हुआ था। शाम के वक्त प्रो० पूर्णसिंह से मिलने के लिए गया। वे न मिले। कुछ देर इन्तजार करके चला आया। बंगले पर कोई आदमी भी न था जिसे अपने आने और निराश लौटने की सूचना दे आता। मैंने पेंसिल से कागज के टुकड़े पर यह शेर लिखा और कमरे के दरवाजे की चिक में रख दिया :—

"नसीब न हो सकी दौलते कदमबोसी,
अदब से चूम के हजरत का आस्ताना चले"

घूम-फिर कर जब सहृदय-शिरोमणि प्रो० पूर्णसिंह बंगले पर पहुँचे और उस पर्चे पर उनकी नजर पड़ी, तो पढ़कर तड़प गए। मुझे प्रातःकाल ही वहाँ से चल देना था। जहाँ ठहरा हुआ था वह जगह उनके बंगले से दूर थी, इसलिए अपने ठहरने के स्थान का पता न लिखा था। उसके बाद जब पूर्णसिंह मिले तो कहते थे—"उस शेर को पढ़कर मैं रात भर बेकरार रहा, मजे ले लेकर बार-बार पढ़ता और झूमता था। एक कैफियत तारी हो गई। तमाम रात नींद न आई। दिल चाहता था चलकर अभी मिलूँ, पर मालूम न था कि आप कहाँ ठहरे हैं! आपने मुझे गैरहाजिरी की अच्छी सजा दी!"

प्रो० पूर्णसिंह बहुत दिनों से चुप थे—और अचानक चुपचाप ही चल दिए। उनके पुराने मित्रों को भी न मालूम हुआ—अफसोस! "प्यारे पूर्णसिंह की कहानीं रह जायगी!"

———

पर्वतपुत्र

महादेवी वर्मा

बादामी रंग के पुराने कागज के टुकड़े पर लिखी हुई रसीद उँगलियों में थामे हुए जब मैं कुलियों के चित्रगुप्त अर्थात् ठेकेदार की ओर से मुँह फेरकर बाहर, बुझने से पहले जल उठने वाले दीपक जैसी सन्ध्या को देखने लगी तब उन्हें अपनी अधीनस्थ आत्माओं का लेखा-जोखा और अपनी महत्ता का वर्णन रोकना पड़ा। कई बार खांस-खांस कर जब वृद्ध महोदय श्रोता की उदासीनता भंग न कर सके तब कुछ आगे को ओर झुके हुए दाहिने कान में मटमैला टूटे निबवाला कलम खोंसकर और टेढ़ी-मेढ़ी उँगलियों में, बिना ढक्कनवाली और पानी मिली हुई फीकी स्याही से भरी दावात यत्न से दबाकर, धीरे-धीरे सीढ़ियों से नीचे उतर गए। और उनके पीठ फेरते ही कितने ही कुली मेरे कमरे के सामने एकत्र होने लगे।

यह डोटियाल संज्ञाधारी जीव भी विचित्र हैं। नैपाल, भूटान आदि से जो कुली इस ओर आते हैं उनकी विशेषता का मापदण्ड बोझा उठाने की शक्तिमात्र है। उनमें प्रायः छोटा से छोटा कुली भी डेढ़ दो मन का बोझ उठाकर ऊँचे पहाड़ों की मीलों लम्बी चढ़ाई पार कर जाता है। पर रूप में यह सब शिव के बराती हैं—केवल वे कुरूप हैं दीन नहीं और ये दीन अधिक हैं कुरूप कम!

कोई टाट का सिला विचित्र पैजामा और फटे हुए काले खुरदरे कम्बल का गिलाफ जैसा कुरता गले में लटकाए भालू के समान घूम रहा है। कोई कोपीनधारी तार-तार फटा सूती कोट पहने, कमर में बोझ बाँधने की मोटी रस्सी लपेटे और रूखे खड़े बालों को खुजलाता हुआ सेही जैसा कांटेदार जन्तु जान पड़ता है। किसी के, कठिन एड़ी और ऐंठी फैली उँगलियों वाले पैर सड़क कूटने के दुर्मुठ से स्पर्धा करते हैं और किसी के पाँव स्वरचित मूँज की खुरदरी चट्टी में सिकुड़ बँध कर पंजे की भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं।

कोई धूप में बैठ कर कपड़ों में से जुएँ बीनता हुआ बानर का स्मरण दिलाता है और कोई दूकानदार से माँग-जाँच कर मुख तथा हाथ पैर में मले हुए तेल के कारण जल से बाहर निकले हुए जलजन्तु की तरह चमकता है। ये भी मनुष्य हैं—इसे हम अभ्यासवश ही समझते हैं—इनमें मनुष्य का रूप पाकर नहीं।

ऐसे विविध अद्भुत रूपों की भीड़ देख कर मेरी मौसी तो कोने में दबक कर बैठ गई और भक्तिन बाहर देहली पर खड़ी होकर विस्मय की मुद्रा से उनका निरीक्षण-परीक्षण करने लगी, क्योंकि दैन्य और विचित्रता का ऐसा समन्वय तो हमारे गाँवों में भी नहीं मिलता। मैंने कुछ उदासीन भाव से कहा 'तुम सब जाओ हमारा कुली जंगबहादुर है उसी को भेज दो।'

मेरी बात समझकर उनमें परस्पर देखादेखी होने लगी—भीड़ में से कोई विशेष साहसी बोला 'माई जी ई है जंगिया,—मैंने इस नाम में जंगबहादुर को नहीं पहचान पाया, अतः फिर कहा 'जंगबहादुर को बुलाओ'—

वे विस्मित से एक-दूसरे को धकियाने लगे। फिर एक व्यक्ति को आगे ठेल कर दूसरे ने कहा 'यई तो जंगिया बोलता है।' जिसे ढकेला था उसमें अपने कुली के उपयुक्त महत्ता का लेशमात्र न पाकर मैंने सन्देह से प्रश्न किया 'क्या नाम है तुम्हारा?' उत्तर मिला—'जंगबहादुरसिंह'

नाम ने नाम के आधार को ठीक से देखना आवश्यक कर दिया। पर्वतीय पथ और पत्थरों की चोट से नाखून और चुटीली उँगलियों के बीच में ढाल बनी हुई मूँज की चप्पल मानो मनुष्य को पशु बनाकर भी खुर न देनेवाले परमात्मा का उपहास कर रही थी। पांव से दो बालिश्त ऊँचा और ऊनी, सूती पैबन्दों से बना हुआ पैजामा, मनुष्य की लज्जाशीलता की विडम्बना जैसा लगता था। किसी से कभी मिले हुए पुराने कोट में, नीचे के मटमैल अस्तर की झाँकी देती हुई ऊपरी तह तार-तार फटकर झालरदार हो उठी थी और अब अपने पहनने वाले को एक झबरे जन्तु की भूमिका में उपस्थित करती थी। अस्पष्ट रंग और अनिश्चित रूप वाली टोपलिया टोपी के छेदों से रूखे बाल जहाँ तहाँ झाँककर मैले पानी और उसके बीच-बीच में झाँकने हुए सेवार की स्मृति करा देते थे।

घनी भौंहों के नीचे मुख चौड़ा और नाक कुछ गोल हो गई थी। हँसी से निरन्तर खुले हुए ओठों के कोने कान तक फैल कर गाल और कान के अन्तर को छिपा देते थे। छोटी और विरल मूँछों के काली डोरी जैसे छोर मुँह के दोनों ओर झूल कर, छोटे छोटे दांतों से प्रकट होने वाले बचपन का विरोध कर रहे थे। एक ओर संकीर्ण माथे और दूसरी ओर छोटी गोल ठुड्डी से सीमित चौड़े मुख को, रोकर पोंछी हुई सी छोटी आँखें वही सजल झलक देती थीं जो रेगिस्तान के जलाशय में सम्भव है। गेहुआँ रंग निरन्तर धूप में रहने के कारण कहीं पुराने तांबे जैसा और कहीं झाईंदार हो गया था। बोझ बाँधने की गाँठगँठीली पुरानी रस्सी का एक छोर गले की माला बनता हुआ कन्धे से लटक रहा था, दूसरा कमरबन्द बनकर कोट के झबरेपन में कहीं छिपा कहीं प्रकट था। ऐसा ही था वह जंगबहादुरसिंह उर्फ जंगिया। उसे अपने भाई धनसिंह के साथ मेरा सामान लेकर केदारनाथ होते हुए बदरिकानाथपुरी तक जाना और श्रीनगर लौटना था। एक रुपया प्रतिदिन के हिसाब से प्रत्येक की मजदूरी तय हुई थी जिसमें से एक आना फी रुपया कमीशन, ठेकेदार का प्राप्य था।

'तुम्हारा भाई कहाँ है' पूछते ही 'धनिया ओ धनिया' की पुकार मच गई। पर बार-बार सबके ढकेलने पर भी जो भाई के पीछे ही अड़ा रहा उसे मैंने बिना किसी के बताए ही धनसिंह समझ लिया। जंगबहादुर का चेहरा भी अपने छोटेपन के प्रति इतना सतर्क था कि उसे देखकर किसी पौराणिक अनुज का स्मरण हो आता था। गोल-मटोल कुछ पुष्ट शरीर वाले धनिया की आकृति भी उसके स्वभाव के अनुरूप थी। विरल भूरी भौंहों की सरल रेखा और छोटी नाक की कुछ नुकीली नोक उसकी सरलता का भी परिचय देती थी और तेजस्विता का भी। ओठों का दाहिना कोना कुछ ऊपर की ओर खिंचा सा रहता था जिससे उसके मुख पर मुस्कराने का भाव स्थायी हो गया था। रंग की स्वच्छता और त्वचा की चिकनाहट से प्रकट होता था कि कुली जीवन की सारी कठोरता उसने अभी नहीं झेली है। टाट के पुराने पैजामे और जीन के फटे कोट ने उसे पराजित सिपाही की भूमिका दे डाली थी जो उसके मुख के भाव के साथ विरोधाभास उत्पन्न करती थी।

पहाड़ के ऊँचे-नीचे रास्ते में मुझे अपना और साथियों का जीवन इन्हें सौंपना होगा और मार्ग में जीवन की सब सुविधाओं के लिए यह मेरे संरक्षण में आ गए हैं, इस विचार ने उन दोनों कुलियों के प्रति मेरे मन में अयाचित ममता उत्पन्न कर दी। कहा—'तुम दोनों सामान देख लो अधिक लगे तो एक कुली और ठीक कर लिया जायगा।'

आगे-आगे जंगिया और पीछे-पीछे धनिया ने कमरे में पैर रखा और मौसी तथा भक्तिन को विस्मित करते हुए वे भारी बंडलों को अनायास उठा उठाकर बोझ का अनुमान लगाने लगे।

मैं पैदल ही लम्बी-लम्बी पर्वतीय यात्राएँ कर चुकी हूँ जिनमें सफलता का मूलमन्त्र सामान कम रखना ही माना जाता है। अतः इस सम्बन्ध में मुझसे भूल होना सम्भव नहीं। फिर मैं यह विश्वास नहीं करती कि जिन यात्राओं में खाद्य सामग्री मिल जाने की सुविधाएँ हैं वहाँ भी घी के पीपे

और बिस्कुट के बीसियों टिन ढोते फिरा जाय। हिम के सुन्दर शिखरों की छाया में पॉल्सन का बटर और हन्टले पामर्स के बिस्कुट खाना मेरी समझ में कम आता है, पर वही लकड़ी-कण्डे बटोर कर आलू भूनने और बाटी बनाने का सुख मैं विशेषरूप से जानती हूँ। मेरी मौसी अवश्य कुछ अधिक सामान ले जाने की इच्छा रखती थीं, परन्तु मेरी छोटी-सी इच्छा को भी बहुत मूल्य देने का उनका स्वभाव है। उनके बेटे जिन तीर्थों में उन्हें नहीं ले जा सकते वहीं मैं ले जा रही हूँ, अतः मैं सब बेटों से बड़ी हूँ और मेरी बुद्धि सब प्रकार विश्वसनीय है, इस सम्बन्ध में उन्हें कोई सन्देह नहीं था।

इस प्रकार उनके इने-गिने कपड़े पर सारे बिस्तर, दवा का बक्स, कपड़े साफ करने के लिए साबुन आदि आवश्यक वस्तुएँ ही साथ थीं जिन्हें जंगबहादुर ने पास कर दिया और दूसरे दिन सबेरे ही हमारी यात्रा आरम्भ हुई।

ऐसी यात्रा में चलचित्र के समान जो जीवन दिखाई देता है उससे हम किसी जाति के सम्बन्ध में ऐसा बहुत कुछ ज्ञातव्य जान सकते हैं जो अन्य किसी प्रकार सम्भव नहीं।

घर में व्यक्ति अपने आश्रितों और सेवकों के प्रति अपने व्यवहार को छिपा सकता है, कृत्रिम बना सकता है, परन्तु यात्रा में ऐसा सहज नहीं होता। मनुष्य में जो स्वार्थपरता, विवेकहीनता, क्रूरता और असहिष्णुता रहती है वह ऐसी यात्रा में पग-पग पर प्रगट होती चलती है। कुली को पैसे देते समय, उसके विश्राम-भोजन का समय निश्चित करते हुए, साथियों के सुःख-दुःख की चिन्ता और सहायता के अवसर पर मनुष्य अपने अन्तरतम का ऐसा आभास दे देता है जिसमें उसके चरित्र की अच्छी व्याख्या हो सकती है।

एक ओर श्वेत शतदल की पंखड़ियों की तरह कुछ खुली कुछ बन्द, कहीं स्पष्ट कहीं अलक्ष्य पर्वत-श्रेणियाँ और दूसरी ओर कहीं हरितदल से

फैले खेत और कहीं गली चाँदी जैसे स्रोतों के बीच में जो जीवन गति-शील है उसे देख कर प्रसन्नता से अधिक करुणा आती है।

डांडी में बैठा हुआ कोई लम्बोदर अपने हाँफते हुए कुलियों को 'सर्प सर्प' कह कर इस प्रकार दौड़ाता है कि उसे देख कर हमें, स्वर्ग पर अधिकार पाकर भी देवता न बन पाने वाले नहुष का स्मरण हो आता है। किसी डांडी में कोई सम्पन्न घर की शृंगारित प्रसाधित महिला पर्वत के सौन्दर्य की उपेक्षा कर झपकियाँ लेती जाती हैं। किसी में घुटे शिर और सूखी लकड़ी से शरीर वाली कोई वृद्धा, कटुतिक्त अनुपान से उत्पन्न मुद्रा धारण किए और राह में आँख गड़ाए हुए हिलती-डुलती चली जाती है। कहीं कोई धनहीन प्रौढ़ झप्पान में बैठ कर दोनों पाँव लटकाए हुए, याचना-भाव से आकाश की ओर ताकता है, कहीं कोई छोटे टट्टू पर विराजमान वीर, घोड़ेवाले को पूँछ पकड़ कर चलने के लिए मना कर रहा है, क्योंकि व्यायाम से वह समीत हो जाता है। कहीं डांडी में मृगचर्म बिछाकर बैठे हुए मठाधीश, शंखझालर लेकर पैदल चलनेवाले शिष्यों को देख-देख कर सदेह स्वर्गारोहण का सुख अनुभव कर रहे हैं।

इस डांडी, झप्पान, टट्टू आदि से भरे-पूरे दल के अतिरिक्त एक-दूसरा दल भी है जिसमें दरिद्रों का ही बाहुल्य है। प्रायः रुपयों के अभाव में इनमें से अधिकांश बिना टिकट ही रेलयात्रा समाप्त कर आने में निपुण होते हैं। फिर पाँच रुपये से लेकर पाँच आने तक अंटी में रखकर और गठरी में सत्तू-चबेना गुड़ का पाथेय लेकर चलते हैं। जीवित लौटने के साधनों के अभाव में इनकी यात्रा सब से अन्तिम विदा के उपरान्त ही आरम्भ होती है। राह में जहाँ बीमार हुए साथी छोड़ कर आगे बढ़ गए। दो चार दिन वहाँ ठहरने से सब का पाथेय और रुपया-धेली चुक जाने का डर रहता है और उस दशा में किसी का भी लक्ष्य तक पहुँचना असम्भव हो सकता है। इसी से वे सब घर से ही ऐसा समझौता करके चलते हैं, क्योंकि एक का न पहुँचना तो उसके व्यक्तिगत पाप का परिणाम है, पर

यदि उसके कारण अन्य भी न पहुँच सकें तो दूसरों को न पहुँचने देने का पाप भी उसके सिर रहेगा।

चट्टी-चट्टी पर इनमें से दो-एक बीमार पड़ते रहते हैं और कहीं-कहीं मर भी जाते हैं। अन्त्येष्टि का काम यात्रियों से माँग-जाँच कर सम्पन्न किया जाता है। साधन न मिलने पर गहरा खड्ड तो स्वाभाविक समाधि है ही।

पैदल चलने वालों में कभी-कभी भ्रमणप्रिय टूरिस्ट भी आते-जाते मिल जाते हैं। वे यात्रियों के अस्त्रशस्त्र से लैस तो होते ही हैं, उनका पैदल चलना भी मनोविनोद के लिए ही रहता है, क्योंकि अधिकांश के साथ टट्टू रहते हैं जिन्हें यात्रियों के सुविधानुसार कभी आगे कभी पीछे चलना पड़ता है। दरिद्र पैदल चलनेवालों से न डांडीवाले बोलते हैं न ये फैशनेबिल यात्री।

डांडियों के काफले में भी मृत्यु अपरिचित नहीं, पर वह कुलियों तक ही सीमित रहती है। कभी किसी कुली को हैजा हो गया, किसी को बुखार आ गया, किसी के गहरी चोट आ गई। बस तुरन्त दूसरा कुली ठीक कर लिया जाता है और यात्रा अविराम चलती रहती है। बीमार कुली भाग्य पर छोड़ दिया जाता है। जीवित रहा तो जहाँ से चले थे वहीं लौट कर दूसरा यात्री खोज लेता है, मर गया तो फेंक देने की सुविधा का अभाव नहीं। डांडियों के साथ सामान ढोने वाले कुली भी रहते हैं, पर उन्हें भी डांडियों के साथ दौड़ना पड़ता है।

इन यात्रियों की स्थिति बहुत कुछ ऐसी रहती है जैसे हमारे यहाँ इक्केवाले की। वह बारह रुपये का टट्टू खरीद लाता है और उसे रात दिन इस तरह दौड़ाता है कि कम से कम समय में छत्तीस वसूल हो जायँ। थके टूटे टट्टू के मर जाने पर वह बारह में नया खरीदने के उपरान्त भी लाभ में ही रहता है।

यात्री भी एक रुपया प्रतिदिन देकर कुली खरीदता है, इसलिए लाभ की दृष्टि से तीन दिन का रास्ता एक दिन में तय करने की इच्छा स्वाभाविक है, अन्यथा वह घाटे में रहेगा।

यात्री तो बैठा-बैठा ऊँघता रहता है, पकवान, सूखे मेवे आदि उसके साथ होते हैं, अतः अधिक थकावट या अधिक भूख का प्रश्न ही नहीं उठता, पर वह कुलियों के विश्राम और भोजन के समय में से घटाता रहता है। सवेरे ही कह देता है कि बीस मील रास्ता तय करना होगा। चाहे जिस तरह चलो पर शाम को इतना न चलने पर मजदूरी काट ली जायगी। और वे बेचारे मनुष्य-पशु हाँफ-हाँफ कर मुँह से फिचकुर निकालते हुए दौड़ते हैं।

आश्चर्य तो यह है कि सबल वे ही हैं। यदि उनमें से एक भी भृकुटियाँ टेढ़ी कर अपने सवार की ओर देख कर साभिप्राय इस सैकड़ों फ़ीट गहरे खड्ड की ओर देखने लगे तो सवार बेहोश हो जायगा। पर उन्हें क्रोध आवे तो कैसे !

इसी स्वर्ग के हृदय में बसी मृत्यु और पवित्रता के भीतर छिपी व्याधि में से हमें भी मार्ग बनाना पड़ा। मैं तो डांडी में बैठती नहीं, दूसरे भी पैदल ही चले। मनुष्य के भाव के समान सप्रेषणीय और कुछ नहीं है। इसी से हमारे कुली स्नेहशील साथी बन सके और आज उनकी स्मृति को मैं उस तीर्थ का पुण्यफल ही मानती हूँ। उन दोनों के पास दो टाट के टुकड़े और एक फटी काली कमरी थी जिसे चौड़ाई की ओर से ओढ़ना कठिन था और लम्बाई की ओर से ओढ़ने पर यदि पैर ढक जाते थे तो सिर का बाहर रहना अनिवार्य था और सिर ढक लेने पर पैरों का बहिष्कार स्वाभाविक हो जाता था।

मलिन बिना धुले कपड़ों में भी उन दोनों भाइयों का स्वच्छता-विषयक ज्ञान खो नहीं गया था। चट्टी में सबसे दूर अँधेरे कोने को खोजकर वे कड़कड़ाते जाड़े में कपड़े दूर रख कौपीन-धारी बाबा जी के वेश में भात बनाते-खाते थे। स्वच्छ कपड़ों के अभाव में आचार की समस्या का यह समाधान निमोनिया को निमंत्रण है, यह मैं प्रयत्न करके भी उन्हें समझा नसक।

बर्तन के नाम से प्रत्येक के पास एक एक लोहे का तसला था जिसमें से एक में दाल बन जाती थी, दूसरे में भात। कभी-कभी दाल का खर्च बचाने के लिए वे झरनों के किनारे खोज कर लिगूणा नाम का जंगली शाक तोड़ लाते और उसी के साथ स्वाद ले लेकर कच्ची-पक्की मोटी रोटियाँ खाते थे। मार्ग में आलू के अतिरिक्त कोई हरी तरकारी मिलती नहीं, पर इसे जंगलियों के खाने योग्य विषैली घास समझ कर कोई खाने पर राजी नहीं होता था। एक बार हठ पूर्वक शाक का आतिथ्य स्वीकार कर लेने पर उसमें मेरा भी हिस्सा रहने लगा—और फिर तो उसे हमारे व्यंजनों में महत्वपूर्ण स्थान मिल गया।

मार्ग में हम सब उनके पीछे चलते थे, अतः शेष शरीर बोझ की ओट में होने के कारण केवल उनके पैर ही मेरे निरीक्षण की सीमा में रहते थे। धनसिंह की पलकें चाहे संकोच से न उठती हों पर उसके पैर भाई के साथ दृढ़ता से उठते थे। जब कभी चढ़ाई पर उनके पंजों का भार एड़ियों पर पड़ने लगता और आगे रखा हुआ पैर पीछे खिसकता जान पड़ता तब मैं बिना उसका मुख देखे ही थकावट का अनुमान लगा लेती थी। परन्तु 'जंगबहादुर थक गये हो' पूछते ही विचित्र भाषा में वही परिचित उत्तर मिलता 'अस्सा है मां ? कुछ तकलीस नहीं'। अच्छा और तकलीफ के अपभ्रंश रूपों पर यदि हँसी नहीं आती थी तो स्वर की गम्भीरता के कारण। जीवन में बहुत छोटी अवस्था से ही मैं मां का सम्बोधन और उसके उपयुक्त ममता का उपहार पाती रही हूँ, परन्तु उन पर्वत-पुत्रों के 'मां' सम्बोधन में जो कोमल स्पर्श और ममता की सहज स्वीकृति रहती थी वह अन्यत्र दुर्लभ रही है।

धनिया तो संकोच के कारण सिर नहीं उठा पाता था, पर जंगिया राह में कई बार घूम-घूम कर हमारी आवश्यकताओं और थकावट का पता लेता रहता था। अन्त में एक दिन उसने अमूल्य वस्तु माँग बैठने वाले याचक की मुद्रा से कहा 'मां आप आगे चलता तो अस्सा होता ! हम

पीछू देखता है, फिर देखता है, बोझा से गरदन नहीं घूमता। आगे रहेगा तो हम सिर ऊँचा करके देख लेगा—वह गया माँ, वह जाता है—और हमारा पाँव जल्दी उठेगा।' तब से हम लोग आगे रहने लगे।

आदि-बद्री पहुँच कर धनसिंह चट्टी के एक कोने में जाकर लेट गया और उसे जोर से बुखार चढ़ आया। मैंने अपने होमियोपैथिक दवाओं के बक्स से कोई दवा खोज कर 'निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते' की कहावत चरितार्थ की और भक्तिन चाय का अनुपान प्रस्तुत कर चतुर नर्स के गर्व का अनुभव करने लगी। जंगबहादुर को बैठे देख जब मैंने उसे बीमार के पैर दबाने का आदेश दिया तब परिचित संकोच के साथ उत्तर मिला वह बड़ा है माँ! वह सरम करता है कैसा करेगा'?

इस शिष्टाचार की बात सुनकर मुझे विस्मय होना स्वाभाविक था। यहाँ तो एक सम्भ्रान्त परिवार की वृद्धा माता ने बताया था कि उसका लड़का जब-तब उस पर हाथ चला बैठता है और मातृत्व की दोहाई देने पर उत्तर मिलता है 'वह जमाना गया जब तुम सब पैर पुजाती थीं—पैदा किया तो अपने शौक के लिए किया—क्या इसी कारण हम तुम पर चन्दन-चावल चढ़ाते-चढ़ाते जन्म बिता दें!' जब जन्मदात्री के सम्बन्ध में मनुष्य इतना शिष्ट हो उठा है तब सहोदरा-विषयक शिष्टता की चर्चा करना व्यर्थ होगा। पर जंगबहादुर का अनुज इतना प्रगतिशील नहीं हो पाया, अतः बड़े भाई से पैर दबवाना उसे शिष्टाचार के विरुद्ध जान पड़े तो आश्चर्य नहीं।

कुली के बीमार पड़ जाने पर यात्री ठहरते नहीं—चट्टी से या निकट के गाँवों से दूसरा कुली बुलाकर तुरन्त ही आगे बढ़ जाते हैं। इस नियम के कारण उन दोनों भाइयों के सरल सहज स्नेह का जो परिचय अनायास मिल गया वह अन्य परिस्थितियों में सुलभ न हो पाता।

जंगबहादुर जानता था कि छोटे भाई की जगह दूसरा कुली ले लेगा। पर वह छोड़ कर चला जावे तो उसकी माँ को क्या उत्तर देगा! धनिया

न बीमारी की दशा में लौट सकता था न चट्टी में अकेले पड़े पड़े अच्छा हो सकता था। कुछ दिन ठहर जाने पर रुपया समाप्त हो जाना निश्चित था, पर दूसरा बोझ मिलना अनिश्चित। ऐसी स्थिति में उसे छोड़कर बड़ा भाई कर्तव्यच्युत हुए बिना नहीं रह सकता। अतः उसने निश्चय कर लिया कि वह सवेरे दो नये कुली बुला लावेगा और स्वयं धनिया की देख भाल के लिए रुक जायगा। धनिया ने भाई के मुख से उसका निश्चय न सुनने पर भी सब कुछ जान लिया था। उसे विश्वास था कि उसका भाई उसे छोड़ न सकेगा, अतः उसकी भी मजदूरी चली जायगी। जो थोड़े बहुत रुपये मिलेंगे वे भी बीमारी में खर्च हो जायँगे—तब दूसरे बोझ की प्रतीक्षा करना भी कठिन होगा और लौटना भी। उसने निश्चय किया कि वह जैसे भी बनेगा उठकर बोझ लेकर चलेगा।

सवेरे झरने से हाथ-मुँह धोकर लौटने पर मैंने चट्टी के नीचे वाले खण्ड में जंगबहादुर को दो नये कुलियों के साथ प्रतीक्षा करते पाया और ऊपर धनसिंह को कपड़े की पट्टी से सिर कस कर बोझा सँभालते देखा। 'क्या तुम अच्छे हो गये' सुनकर उसने थकावट से उत्पन्न पसीने की बूँदें पोछते हुए बताया कि वह चल सकेगा। उसके न जाने से भाई का भी नुक्सान होगा। उन दोनों चचेरे भाइयों के स्नेह भाव ने कुछ क्षण के लिए मुझे मूक कर दिया। मैं दो-तीन दिन वहाँ ठहर कर उन्हीं के साथ यात्रा आरम्भ करूँगी यह सुनकर उनके मुखों पर विस्मय का भाव उदय हो आया जिसे देख कर ग्लानि भी हुई और खिन्नता भी। मनुष्य ने मनुष्य के प्रति अपने दुर्व्यवहार को इतना स्वाभाविक बना लिया है कि उसका अभाव विस्मय उत्पन्न करता है और उपस्थिति साधारण लगती है। धनसिंह तीसरे दिन अच्छा हो गया और चौथे दिन हम फिर चले।

उन दोनों के पारस्परिक व्यवहार सौहार्द आदि ने मेरे मन में उसके प्रति जो ममतामय आदर का भाव उत्पन्न कर दिया था वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। मेरी कुछ किताबें, दवा का बक्स, बर्तन आदि वस्तुएँ भापी

थीं, अतः उनमें से प्रत्येक उन्हें अपने बोझ में बाँधकर दूसरे का भार हल्का कर देना चाहता था। सवेरे एक दूसरे से पहले उठने का प्रयत्न करता था जिससे सब भारी चीजें अपने बोझ में बाँधने का अवसर पा सके। एक बताशा देने पर भी एक भाई दूसरे की खोज में दौड़ पड़ता था। कोई देखने योग्य वस्तु सामने आते ही एक दूसरे को पुकारने लगता था। वे दोनों ऐसे दो बालकों के समान थे जिन्हें किसी ने जादू की छड़ी से छूकर इतना बड़ा कर दिया हो।

मार्ग के अन्य कुलियों के प्रति भी उनके व्यवहार में संवेदनशीलता और सहानुभूति ही रहती थी। एक बार पहाड़ से गिरती हुई गाय इतने वेग से मार्ग तक फिसलती चली आई कि उसके खुर की चोट से एक कुली का पाँव घायल हो गया। धनसिंह को सामान सौंपने के उपरान्त जंगबहादुर उस लोहूलुहान वाले कुली का पीठ पर लाद कर झरने तक ले गया और हमारे मरहम पट्टी कर चुकने पर उसे डेढ़ मील दूर अगली चट्टी तक पहुँचाया। इतना ही नहीं, उसे अपना और उसका बोझ भी लाना पड़ा और अँधेरे में ठिठुरते हुए, अपने फटे कपड़ों में लगे रक्त के दाग भी साफ करने पड़े। पर प्रश्न करने वाला उससे एक ही उत्तर पा सकता था 'कुछ तकलीस नहीं, अस्सा है।'

धनसिंह संकोची होने के कारण बातचीत कम करता था पर जंगबहादुर जब-तब बैठकर अपने माता, पिता, गाँव, घर आदि की कहीं सुखद, कहीं दुखद कथा कहता रहता।

वह नैपाल के छोटे ग्राम में रहने वाले माता-पिता का अन्तिम पु त्र है। जीविका का अन्य साधन न होने के कारण वह बचपन से ही अन्य कुली-साथियों के साथ इस ओर आने लगा। गर्मियों के आरम्भ में वे आते और शरद के आरम्भ में लौट जाते हैं। किसी को मजदूरी के सिल-सिले में कैलाश, किसी को पिण्डारी और किसी को बदरी-केदार की यात्रा करनी पड़ती है। ठेकेदार के पास सबके नाम और नम्बर रहते हैं। यदि

कोई कुली लौट कर नहीं आता और समाचार भी नहीं मिलता तो वह मरा समझ लिया जाता है। इसी प्रकार जब कोई सीजन के अंत में घर नहीं लौटता और न साथियों के द्वारा कोई समाचार भेजता है तब घर वाले भी उसे महायात्रा का यात्री मानकर क्रिया-कर्म द्वारा उसका पथ सुगम बनाने का प्रयत्न करते हैं।

जंगबहादुर अनेक बार आपत्तियों में पड़ चुका है क्योंकि वह अधिक कमाने की इच्छा से दूर-दूर की यात्राएँ ही नहीं करता, एक सीजन में कई-कई यात्राएँ कर डालता है। उसके अनिश्चित जीवन के कारण ही विवाह योग्य कन्याओं के पिता उसे जामाता होने के उपयुक्त नहीं मानते थे। परन्तु दो वर्ष पहले उसे अविवाहित रहने के शाप से मुक्ति मिल चुकी है। वयस्क वधू के माता-पिता थे ही नहीं। सम्बन्धियों ने सोचा—चाहे वर किसी पर्वतशिखर पर हिम समाधि ले ले, चाहे धनकुबेर बनकर लौटे, कन्या रहेगी तो ससुराल ही में, अतः बेचारे अभिभावक तो कर्तव्यमुक्त हो सकेंगे। पिछले वर्षों जंगबहादुर मजदूरी के लिए आता ही नहीं था, इस वर्ष खेत में कुछ हुआ नहीं और पत्नी ने पुत्ररत्न उपहार दे डाला। अब तो कुछ न कुछ कमाने का प्रश्न उग्र हो उठा।

जब वह घर से चला तब उसका पुत्र दो मास का हो चुका था पर वह इतना दुर्बल और छोटा था कि पिता उसे गोद में लेने का भी साहस नहीं कर सका। अब वह खाने-पीने से बची हुई मजदूरी घर ले जाने के लिए जमा कर रहा है और जो कुछ इनाम में मिल जाता है उससे पुत्र के लिए एक टोपा और कुरता बनाने की इच्छा रखता है। युवती पत्नी ने बार-बार आँखें पोंछते-पोंछते, फटा आँचल फैला-फैलाकर विनती की थी कि भले आदमी के साथ जाना और बोझ लेकर एक बार से अधिक मत चढ़ाई करना। पिता ने पीठ पर हाथ रखकर और आकाश की ओर धुँधली आँखें उठाकर मानो उसे परमात्मा को सौंप दिया था। और माँ तो गाँव की सीमा के बाहर तक रोती-रोती चली आई थी। बड़ी कठिनाई से अनेक

आश्वासन देने पर भी वह लौटी नहीं वरन् वहीं एक जरा-जीर्ण पेड़ का सहारा लेकर दृष्टि पथ से बाहर जाते हुए पुत्र को आँसुओं के तार से बाँध लेने का निष्फल प्रयत्न करती रही। विदा का क्रम तो सनातन था, पर इस वर्ष उस अनुष्ठान में भाग लेने के लिए विकल पत्नी और मौन पुत्र और बढ़ गए थे। जंगबहादुर को परम समर्थ जानकर उसकी विधवा काकी ने भी उसे अपना पुत्र सौंप दिया था, इसीसे अब वह ऐसे ही यात्री की खोज में रहता है जो उन दोनों को साथ ले चले।

जिन्होंने, पाँच जल की धाराओं से घिरा और रंग-विरंगे फूलों में छिपे चरणों से लेकर शून्य नीलिमा में प्रगट मस्तक तक सफेद हिम में समाधिस्थ केदार का पर्वत देखा है वे ही उसका आकर्षण जान सकते हैं। मीलों दूर से ही वह उज्ज्वल शिखर अक्षरहीन आमंत्रण के समान खुला दिखाई देता है। जैसे-जैसे हम उसकी ओर बढ़ते हैं वह विस्तार में बढ़ता जाता है और उसकी रजत-विद्युत-लेखाओं के समान झिलमिलाती हुई रेखायें स्पष्टतर होती जाती हैं। लौटते समय जिस क्षण वह हमारी दृष्टि से ओझल हो जाता है उस समय हम एक विचित्र अकेलेपन का अनुभव करते हैं।

रुद्रप्रयाग पहुँच कर कुछ साथी इतने थक गये थे कि केदार की इतनी लम्बी चढ़ाई के लिए साहस न बाँध सके। वास्तव में बदरीनाथ के पर्वत-शिखर से केदार का शिखर केवल ढाई कोस के अन्तर पर स्थित है। पर वहाँ तक पहुँचने में नौ दिन का समय लगता है। 'नौ दिन चले अढ़ाई कोस' की कहावत के मूल में सम्भवतः यही सत्य है।

जब मैंने वहाँ जाने का निश्चय कर लिया तब विशेष थके साथी रुद्र, प्रयाग में हमारी प्रतीक्षा और विश्राम करके 'एक पंथ दो काज' को चरितार्थ करने के लिए प्रस्तुत हो गए। जाने वालों के सामान के लिए एक कुली पर्याप्त था, अतः दूसरे कुली की समस्या का समाधान आवश्यक हो उठा। मेरी व्यक्तिगत इच्छा थी कि दूसरा कुली भी यात्रियों के साथ विश्राम करे और अठारह दिन के उपरान्त हमारे लौटने पर साथ चले।

पर जंगबहादुर माँ जी का अट्ठारह रुपया मुफ्त कैसे ले ले। उसने बहुत संकोच और वरदान-याचक की मुद्रा से जो कहा उसका आशय था कि वह माँ जी को जान गया है, अतः विश्वासपूर्वक धनसिंह को छोड़ कर जा सकता है। यहाँ से श्रीनगर पहुँचकर वह नये यात्री की खोज भी करेगा और भाई की प्रतीक्षा भी। सब के लौट आने पर वह धनिया के साथ दूसरी यात्रा करेगा।

जंगबहादुर के स्वार्थत्याग पर कोई काव्य चाहे न लिखा जाय, पर मेरे हृदय में उसकी स्मृति एक कोमल मधुर कविता है। जब मैंने जंबगहादुर को अपने साथ चलने का आदेश दिया और धनसिंह को रुद्र प्रयाग में विश्राम का, तब उसकी आँखें अधिक सजल हो आईं या कण्ठ अधिक गद्गद हो उठा, यह बताना कठिन है। उसने बहुत साहस से लौट जाने का प्रस्ताव किया था, पर हम सब का विछोह सहना उसके लिए कठिन था। कई दिन बाद उसने अपनी अटपटी भाषा में बताया था 'हम हिंया सरम, अदब से नहीं रोया—फिर दूर जाकर जोड़ से रोया—सोचा माँ जी जाता है और हमारे भीतर कैसा-कैसा तो होने लगा।'

वह यात्रा भी समाप्त हो गई और तब एक दिन हम सब को बस पर बैठा कर वे दोनों भाई खोए से खड़े रह गए। जंगबहादुर ने आँसू रोकने का प्रयास करते-करते कहा. 'माँ जी, जीता रहनां फिर आना, जंगिया का नाम चीठी भेजना।' धनिया सदा के समान पृथ्वी पर दृष्टि गड़ाए, बीच-बीच में टपकते आसुओं की भाषा में विदा दे रहा था। आज वे दोनों पर्वतपुत्र कहाँ होंगे सो तो मैं बता ही नहीं सकती—पर उनकी माँ जी होकर मुझे जो सम्मान मिला वह भी बताना सहज नहीं।

गोपियों की भगवद्भक्ति

महावीरप्रसाद द्विवेदी

शरत्काल है। धरातल पर धूल का नाम नहीं। मार्ग रजोरहित है। नदियों का औद्धत्य जाता रहा है, वे कृश हो गई हैं। सरोवर और सरिताएँ निर्मल जल से परिपूर्ण हैं। जलाशयों में कमल खिल रहे हैं। भूमिभाग काशांशुकों से शोभित हैं। वनोपवन हरे-हरे लोल-पल्लवों से आच्छादित हैं। आकाश स्वच्छ है कहीं बादल का लेश नहीं। प्रकृति को इस प्रकार प्रफुल्लवदना देखकर, एक दफे, रात के समय श्रीकृष्ण को एक दिल्लगी सूझी—

दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं रमाननाभं नवकुंकुमारुणम्।
वनञ्च तत्कोमलगोभिरञ्जितं जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्॥

उस दिन शरत्पूर्णिमा थी। श्रीकृष्ण ने देखा, भगवन् निशानायक का बिम्ब अखंडभाव से उदित है, वह अपनी सोलहों कलाओं से परिपूर्ण है। नवीन कुंकुम के समान उसका अरुण बिम्ब रमा के मुखमंडल को भी मात कर रहा है। उसकी कोमल किरणमाला वन में सर्वत्र फैली हुई है। ऐसे उद्दीपनकारी समय में उन्होंने मुरली की मधुर तान छेड़ दी। उसकी ध्वनि ने गोपियों के मानस को बलात् अपनी ओर खींच लिया। वे उस लोकोत्तर निनाद को सुनकर मोहित हो गईं।

वंशी की ध्वनि सुन कर गोपियां की अन्य समस्त इन्द्रियाँ कर्णमय हो गईं। अन्य इन्द्रियों के धर्म्म लोप हो गए। अकेली श्रवणेन्द्रिय अक्षुण्ण रही। श्रीकृष्ण के द्वारा बजाई गई वंशी की ध्वनि उसे सुनकर गोपियाँ आकुल हो उठीं। उन्होंने घर के सारे काम छोड़ दिए। शिशुओं को स्तन्यपान कराना और पतियों की शुश्रूषा करना भी वे भूल गईं। वे सहसा घर से निकल पड़ीं और उसी तरफ दौड़ीं जिस तरफ से वह मुग्ध-कारिणी ध्वनि आ रही थी। आकर उन्होंने देखा कि श्रीकृष्णजी अपने नटवर-वेश से खड़े वंशी बजा रहे हैं। धीरे-धीरे, उनके पास एक दो नहीं, सैकड़ों गोपियाँ एकत्र हो गईं। इतनी आतुर होकर, हड़बड़ी में वे घर से निकल पड़ी थीं कि उन्होंने वस्त्राभूषण तक ठीक-ठीक—जिसे जहाँ पर और जिस तरह पहनना चाहिए था—नहीं पहना था। उन्हें इस तरह आई देख श्रीकृष्ण को फिर एक दिल्लगी सूझी। आपने वंशी बजाना बन्द कर दिया और बोले—

स्वागत! स्वागत! खूब आईं। कहिए, क्या हुआ? कुशल तो है? व्रज पर कोई विपत्ति तो नहीं आई? किसलिए रात को यहाँ आगमन हुआ?

जरा इन प्रश्नों को तो देखिए। स्वागत-सत्कार के ढङ्ग पर तो विचार कीजिए। आप ही ने तो बुलाया और आप ही आने का कारण पूछ रहे हैं? यह दिल्लगी नहीं तो क्या है? और दिल्लगी भी बड़ी ही निष्करुण! बात यहीं तक रहती तो गनीमत थी! कृष्ण ने तो इसके आगे गोपियों को कुछ उपदेश भी दिया। उपदेश क्या दिया, जले पर नमक छिड़का। आपके व्याख्यान का कुछ अंश सुनिए—

रात बड़ी ही भयावनी है। जङ्गल बेहद घना है। हिंस्र जीव इधर-उधर घूम रहे हैं। भला यह समय भी क्या स्त्रियों के बाहर निकलने का है? तुम्हारे बाल-बच्चे रोते होंगे। तुम्हारे पति, पुत्र, पिता आदि कुटुम्बी तुम्हें ढूँढ़ते होंगे। राका-शशि की किरणों से रञ्जित-कुसुमित कानन की सैर हो चुकी। रविनन्दिनी यमुना की तरल तरङ्गों की शोभा तुम देख

चुकीं। यदि प्रेम-परवशता के कारण मेरे दर्शनार्थ तुम चली आई तो तुम्हारी वह दर्शन-पिपासा भी पूर्ण हो गई। हो चुका। बस, अब तुम पधारो, अपने-अपने घर लौट जाओ, जाकर अपने-अपने स्वामियों की शुश्रूषा करो—

दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोगधनोऽपि वा।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी॥

देखो, अपना पति दुःशील, दुर्भग, वृद्ध, जड़, रोगी और निर्धन ही क्यों न हो, स्त्रियों को उसका त्याग कदापि न करना चाहिए। उससे तुम्हारे दोनों लोक बिगड़ जायँगे।

श्रीकृष्ण के इस व्याख्यान पर ध्यान दीजिए और फिर उनके उस प्रश्न पर विचार कीजिए। प्रश्न था कि तुम आईं क्यों? इस प्रश्न का उत्तर आप स्वयं ही दे रहे हैं। फिर भी आपने प्रश्न करने की जरूरत समझी! इसी से हम कहते हैं कि यह सारी दिल्लगी थी—दिल्लगी पर दिल्लगी!

प्रियतम कृष्ण का यह रुख देखकर और उनकी यह प्रश्नावली तथा उपदेशमाला सुनकर गोपियों के होश उड़ गए। उन्हें स्वप्न में भी यह ख्याल न हुआ होगा कि उनके साथ इतना कठोर बर्ताव किया जायगा। वे थीं अबला। और अबलाओं का विशेष बल होता है रोना और आक्रोश करना, सिसकना और सिर धुनना। उसी का अवलम्ब उन्होंने लिया। वे लगीं रोने। बड़े-बड़े आँसुओं के साथ, लगा उनकी आँखों का काजल बहने। मुँह उनके सूख गए। अत्युष्ण श्वासोच्छ्वासों की मार से उनके बिम्बाधर कुम्हला गए। बड़ी देर तक वे अपने पैर के अँगूठों से जमीन कुरेदती हुईं ठगी-सी खड़ी रहीं। हाय बड़ा धोखा हुआ। यह निष्ठुरता! हमारे अनन्य और निर्व्याज प्रेम का यह बदला! हमने जिसे अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया उसका यह निष्कृप व्यवहार! इसी तरह की बातें उन्होंने मन ही मन कीं। भगवान कृष्ण स्वयं ही जान सके होंगे कि उनके उस

धर्म्ममूलक ढकोसले की दुहाई ने गोपियों के कमल-कोमल हृदयों पर कितना निष्ठुर वज्रपात किया होगा। खैर, अपने होश किसी तरह थोड़ा-बहुत सँभाल कर उनमें से कुछ प्रगल्भा गोपियों ने कृष्ण के सदुपदेश का इस प्रकार सत्कार किया। वे बोलीं—

सरकार, आप तो बहुत बड़े पण्डित-प्रवर निकले। पंडित ही नहीं, धर्मशास्त्री भी आप बन बैठे हैं। हमें आपके इन गुणों की अब तक खबर ही न थी। आपकी इन परम पावन कल्पनाओं का ज्ञान तो हमें आज ही हुआ। प्रार्थना यह है कि आप आदि-पुरुष भगवान् को भी जानते हैं या नहीं। मोक्ष की इच्छा रखने वाले, मुमुक्षु-जन, अपना घर-द्वार, स्त्री-पुरुष, धन-वैभव, सांसारिक पदार्थों का परित्याग करके जब उनको शरण जाते हैं तब, आप ही की तरह, क्या वे भी उन मुमुक्षुओं को वैसा ही शुष्क उपदेश देते हैं जैसा कि आपने हम लोगों को दिया? क्या कभी कोई पुरुष भगवान् के दरबार या द्वार से उसी तरह दुरदुराया गया है जिस तरह कि आप हमें दुरदुरा रहे हैं? आप को सर्वेश और सर्वात्मा समझ कर ही हम आपकी सेवा में उपस्थित हुई हैं। अतएव, हे पण्डित-शिरोमणे, आप हमसे पण्डिताई न छाँटिए। आप अपने पाण्डित्य का संवरण कीजिए। कठोरता के अवतार न बनिए। नृशंस वाक्यों को मुख में न लाइए। समस्त विषयों को तृणवत् समझ कर हम आपके पादपद्म का आश्रय लेने आई हैं, हमें स्वीकार कीजिए। व्यर्थ की बातें न बनाइए। परुषवचनावली और नृशंसता आपको शोभा नहीं देती।

हाँ, आपकी एक बात का जवाब रह गया। आपकी धर्मभीरुता हमें बिलकुल नहीं जँची। मनु, याज्ञवल्क्य और पराशर आदि धर्मशास्त्रकारों के मत का मनन आपने खूब ही किया मालूम होता है। परन्तु सरकार, इन ऋषियों से भी बड़े नहीं तो समकक्ष अन्य ऋषियों ने जो कुछ कहा या लिख रक्खा है उस पर आपका ध्यान क्यों नहीं गया? उन्होंने जो हाथ उठा-उठा कर, जोरों से, यह कहा है कि जो जिस भाव से भगवान्

की शरण जाता है उसका ग्रहण, वे उसी भाव से करते हैं। यदि यह ठीक है तो आपके धर्म-शास्त्र हमारे लिए रद्दी नहीं तो कोरे कागज के टुकड़े अवश्य हैं। हमने सुन रक्खा है कि आप ही समस्त प्राणियों की आत्मा हैं। बता दीजिए यह सच है या झूठ। यदि सच है तो हमारे उस हार्दिक भाव के ग्रहण के लिए भी, जिस पर आपका आक्षेप है; आपके विशाल हृदय में कुछ स्थान मिल सकता है या नहीं। बताइए। आप ही इसका निर्णय कर दीजिए।

धर्म्मशास्त्रज्ञ बनकर आपने यही फरमाया है न कि पति, पुत्र, सुहृद और अन्य कुटुम्बियों के विषय में स्त्रियों को अपना धर्म्म-पालन करना चाहिए—अर्थात् उनके प्रति स्त्रियों का जो कर्तव्य है उससे उन्हें च्युत न होना चाहिए। यही न ? अच्छा तो अब आप यह भी फरमा दीजिए कि जितने देहधारी हैं उन सब के ईश्वर, उन सब की आतमा, उन सब के बन्धु आप ही हैं या नहीं ? अगर हैं और अगर दिव्य-दृष्टि वाले ऋषियों का यह सिद्धान्त भी सच है कि "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" तो बस हो चुका। तो हम अपने पति, पुत्र, सखा और सहोदर आदि की भावनाएँ सब आप ही में करती हैं। आप ही हमारे पिता, आप ही हमारे पुत्र, आप ही हमारे पति और आप ही हमारे सब कुछ हो। हमारी भावनाओं पर आपका क्या जोर ! हम मिट्टी को यदि सुवर्ण समझ लें, पत्थर को यदि रत्न समझ लें, विष को यदि अमृत मान लें तो इससे किसी का क्या हर्ज ? यदि आप तनुभृज्जनों की आत्मा हैं—यदि आप घट-घट में व्यापक हैं—किसी के पिता, किसी के पति, किसी के पुत्र आप स्वयं ही बन चुके तो फिर भला किस युक्ति से आप अपने में हमारी 'पति-भावना से छुटकारा पा सकते हैं ? आप अपनी धर्म्मज्ञता के अम्बर या आडम्बर समेटिए। उसे औरों के लिए रख छोड़िए—

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्—
नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्।

तन्नः प्रसीद परमेश्वर मास्म छिन्द्या
आशाभृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र ॥

हे कमललोचन, सर्वदर्शी, विद्वान् तो आप ही को सब का भोक्ता और सबका ईश्वर समझते हैं। इसी से आप अन्तर्यामी आत्मा से ही वे प्रेम करते हैं और उसी को हर तरह नित्यप्रति रिझाने की चेष्टा में रत रहते हैं। आपके मुकाबले में पति, सुत, बन्धु आदि कोई चीज नहीं। उनको रिझाना व्यर्थ ही नहीं नाना प्रकार के क्लेशों का कारण भी है। जिसने उन्हें रिझाया—जिसने उनसे विशेष प्रेम किया—वह तो भव-बन्धन से सर्वथा ही बँध गया। उसका छुटकारा कहाँ? उसके लिए तो आप अपने को दुर्लभ ही समझिए। इससे आप अब दया कीजिए। हम आपको अपना परमाराध्य ईश्वर ही समझ कर आपकी सेवा में उपस्थित हुई हैं। आपकी इस प्रकार सेवा करने की लालसा चिरकाल से हमारे हृदय में जाग्रत है। उसे पूर्ण कर दीजिए। हमारी आशालता के टुकड़े न कर डालिए। हमें निराश न कीजिए। अपने विरुद को सँभालिए। अपना पाण्डित्य और किसी मौके के लिए रख छोड़िए। हम तो अपना सर्वस्व—तन और मन—आपके अर्पण कर चुकीं। अतएव अब यथा योग्यं तथा कुरु।

कहने की जरूरत नहीं गोपियों का अनन्य प्रेम और उनकी निर्व्याज भक्ति देखकर भगवान् कृष्ण ने उनकी सेवा को स्वीकार करके उन्हें कृतकृत्य कर दिया। परन्तु उन्होंने उन प्रेयसी गोपियों के साथ दिल्लगी करना फिर भी न छोड़ा। एक बार, उसी रात को, वे अचानक उनके बीच से अन्तर्धान हो गए। परन्तु यह दूसरा किस्सा है। इससे इसे जाने दीजिए।

श्रीकृष्ण की इस लीला पर कुछ लोगों के द्वारा बड़ी ही कड़ी टीकाएँ की गई हैं और अब तक की जाती हैं। स्वयं पुराणकारों ही ने गोपियों को "व्यभिचारिणी" बताकर फिर उनके इस कलंक का परिमार्जन किया

है। इस लीला की असलियत क्या थी, यह जानना तो सर्वथैव असम्भव है जो कुछ इस विषय में कहा जा सकता है, केवल अनुमान और तर्क ही की सहायता से कहा जा सकता है। पुराणों की रचना चाहे वेदव्यास ने की हो, चाहे बादरायण ने की हो, चाहे कृष्णद्वैपायन ने की हो, चाहे और किसी ने की हो, उनका कर्त्ता आत्मदर्शी ऋषि न भी हो तो भी बहुत बड़ा पण्डित या ज्ञानी जरूर ही रहा होगा। इस दशा में पुराणोक्तियों का खंडन करना महज मामूली आदमियों का काम नहीं। फिर भी यदि कोई अनधिकारी पुरुष उन उक्तियों की प्रतिकूलता करने का साहस करेगा तो उसका कथन पागल का प्रलाप समझ लेने में क्या हर्ज? अतएव कुछ-कुछ इसी तरह का प्रलाप आप सुन लेने की उदारता दिखाइए। श्रीमद्-भागवत के कर्त्ता का कहना है—

तमेव परमात्मानं जारबुद्धयापि संगताः ॥
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ॥

अर्थात् जारबुद्धि से भी श्रीकृष्ण परमात्मा की संगति करने के कारण गोपियों से सांसारिक बन्धन क्षीण हो गए और उन्होंने अपनी गुणमयी देह का त्याग कर दिया। इस पर निवेदन है कि गोपियाँ बहुत पहले ही से कृष्ण को ईश्वर, परमेश्वर, सर्वात्मा, परमात्मा कहती चली आ रही हैं। पुराण-प्रणेता ने स्वयं ही उनके मुँह से ये बातें कहलाई हैं। फिर उनकी जार-बुद्धि कहाँ रही? वे तो उन्हें परमात्मा ही समझ कर, उनके पास, उनकी सेवा, अपने मनोनुकूल करने के लिए, उपस्थित हुई थीं। परमात्मा होकर भी श्रीकृष्ण जार नहीं हो सकते। श्रीमद्भागवत में उसके कर्त्ता ने एक नहीं, अनेक स्थलों में, श्रीकृष्ण को परमपुरुष, आदि-पुरुष, परमात्मा आदि शब्दों से याद किया है। परन्तु ऐसे स्थलों में भी उसने बेचारी गोपियों को लगे हाथों व्यभिचारदुष्ट भी कह डालने की कृपा की है।

इन वनवासिनी नारियों के कृष्ण-परमात्मा-विषयक अलौकिक भावों की प्रशंसा करके उन पर लौकिक लांछन का भी आरोप करना कहाँ तक

संगत है, इसका निर्णय यदि कोई ऋषि-मुनि ही करे तो वह सर्वमान्य हो सकता है। हमारी प्रार्थना या निवेदन को तो पाठक हमारा प्रलाप-मात्र समझें। हाँ, एक बात को याद रक्खें। व्यभिचारी शब्द के वि+अभि+चर को ध्यान में रख कर उसका धात्वर्थ न करें, लोक में उसका जो अर्थ समझा जाता है वही करें।

पुराणकारों ने श्रीकृष्ण को सर्वेश्वर, सर्वसाक्षी, सर्वान्तर्यामी परमात्मा जब मान लिया तब भक्तों, प्रणयियों और दास्य भाव से प्रणोदित जनों के लिए क्या उन्होंने कुछ ऐसे भी नियम कर दिए हैं कि तुम उसी भाव से अपने उपास्य या इष्ट-देव की भावना या भक्ति करो? जहाँ तक हम जानते हैं, ऐसा तो कोई नियम नहीं। जो भाव जिसे अच्छा लगता है, उसी भाव से वह ईश्वर की अर्चना करता है। कोई उन्हें सखी समझता है, कोई उन्हें स्वामी समझता है, कोई उन्हें बालक समझता है। यहाँ तक कि किसी-किसी ने शत्रुभाव से भी उनकी उपासना की है। इस दशा में यदि गोपियों ने श्रीकृष्ण को पति-भाव से भजा तो उन पर कलंक का आरोप क्यों? या तो कृष्ण को कोई साधारण मनुष्य समझिए या गोपियों पर वैसा आरोप करना छोड़िए। दोनों बातें साथ-साथ नहीं हो सकतीं। यदि श्रीकृष्ण परमात्मा थे और गोपियों ने उन्हें पति-भाव से ग्रहण किया तो वे सर्वथा निर्दोष ही नहीं, मङ्गलमूर्ति समझी जाने योग्य और समस्त संसार की दृष्टि में पूजनीय हो चुकीं। आप श्रीमद्भागवत को सरसरी ही दृष्टि से पढ़िए। आप देखेंगे कि गोपियों ने अपने इष्टदेव को जहाँ प्रिय, प्रियतम, अङ्ग, सखा इत्यादि शब्दों में सम्बोधन किया है वहाँ उन्हें वे बराबर ईश्वर, परमेश्वर और परमात्मा भी कहती आई हैं। अतएव उनके प्रेम के सम्बन्ध में दुर्भावना के लिए मुतलक ही जगह नहीं। जिस भगवद्-गीता को परम पण्डित भी संसार में सबसे अधिक महत्त्व की पुस्तक समझते हैं उसी में कृष्ण भगवान् ने खुद ही कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

परामात्मा होकर कृष्ण जब स्वयं ही कह रहे हैं कि जो जिस भाव से मेरा भजन करता है, मैं उसे उसी भाव से ग्रहण करता हूँ तब शङ्का और सन्देह के लिए जगह कहाँ ?

अच्छा, इन गोपियों के पिता, पत्र, पति आदि कुटुम्बी कृष्ण को क्या समझते थे ? जिस कुमार कृष्ण ने बड़े-बड़े दैत्यों को न सही, अपने से अनेक गुने बली और पराक्रमी केशी, बक, अघ आदि प्राणियों को पछाड़ दिया, जिसने कालिय के सदृश महाविषधर विकराल नाग का दर्प-दलन कर दिया, और जिसने गोवर्द्धन-पर्वत को हाथ पर उठा लिया, उसे यदि वे परमात्मा न समझते थे तो कोई बहुत बड़ा पराक्रमी, प्रभुतावान् और महत्वशाली पुरुष जरूर ही समझते थे। तभी उन्होंने अपने कुटुम्ब की स्त्रियों को कृष्ण से प्रेम करते देख उनकी विशेष रोकटोक नहीं की। यदि करते तो यह कदापि सम्भव न था कि सैकड़ों स्त्रियाँ उस रात को इस तरह अपने-अपने घरों से वन को दौड़ जातीं। शायद ही कुछ स्त्रियाँ उस रात को वहाँ जाने से रह गई होंगी। अच्छा, जो वहाँ गईं उनके लौटने पर भी, उनके सम्बन्ध में, कोई घटना या दुर्घटना नहीं हुई। कम से कम पुराणों में इसका उल्लेख हमारे देखने में नहीं आया कि उन गोपियों को उनके कुटुम्बियों ने घर से निकाल दिया, उनका त्याग कर दिया, या उन्हें और हो कोई सजा दी। इससे सूचित होता है कि गोपियों के कुटुम्बी भी श्रीकृष्ण को कोई अलौकिक पुरुष नहीं तो महात्मा जरूर ही समझते थे। अतएव अपनी स्त्रियों को उनसे प्रेम करते देखकर भी उन्होंने उनके उस काम को बुरा नहीं समझा।

परन्तु यदि आप यही मान लें कि गोपियों का व्यवहार लोक-दृष्टि से निन्द्य था तो परलोक-दृष्टि से वह प्रशंसनीय ही माना जायगा। भगवद्-भक्त अपनी धुन के पक्के होते हैं। उन्हें उनके निश्चित मार्ग से कोई हटा नहीं सकता। उन्हें निन्दा और स्तुति की परवा भी नहीं होती। वे रूढ़ि और लोकाचार के दास नहीं होते। मीरा की क्या कम निन्दा हुई ?

उन पर क्या लांछन नहीं लगाए गए ? उनके कुटुम्बियों ने क्या उनका परित्याग नहीं किया ? परन्तु यह सब होने पर भी मीरा ने यह कहना न छोड़ा—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई ।

कुछ-कुछ यही दशा तुलसीदास, कबीरदास, चैतन्य, रैदास, पलटू आदि की भी हुई है । जो 'आर्यपथ' कहा जाता है उसे छोड़ने वाले किस साधु पर कलंक नहीं लगा ? कलंक लगाने और निष्ठुर आक्षेप करने वाले कुटुम्बियों का त्याग इन साधुओं ने तृणवत् कर दिया, परन्तु अपने अभीष्ट पथ का परित्याग नहीं किया । इसी में इन्होंने अपना कल्याण समझा और इनकी यह समझ सर्वथा ठीक भी थी । तुलसीदास ने कहा भी है—

तज्यो पिता प्रहलाद विभीषण बन्धु भरत महतारी ।
बलि गुरु ब्रज बनितन पति त्यागो भे जग-मङ्गलकारी ॥

प्रेमी को पूरा अधिकार है कि वह अपने उपास्यदेव का आराधन जिस भाव से चाहे करे । ज्ञानयोग और राजयोग आदि के द्वारा भगवान् का सान्निध्य या मोक्ष प्राप्त कर लेना साधारण साधकों का काम नहीं । वह मार्ग बहुत कठिन है । पर प्रेम और भक्ति का मार्ग सुलभ और सुखसाध्य है । आप शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र देखिए । उसमें इस मार्ग की कितनी महिमा गाई है । इनके लिए वही साधना उपयुक्त थी जिसका आश्रय इन्होंने लिया । अतएव ये कल्याणी गोपिकाएँ ज्ञानियों और योगियों के भी वन्दन और प्रणमन की पात्र हैं ।

ब्रज छोड़ आने पर एक बार श्रीकृष्ण ने इन गोपियों का समाचार जानना चाहा । एतदर्थ उन्होंने उद्धव को चुना । उन्हीं उद्धव को जिन्होंने श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में वेदव वेदान्त बूँका है और महाभारत में राजनीति पर बड़े-बड़े लेक्चर झाड़े हैं । आप अपनी ज्ञान-गरिमा की गठरी बाँध कर ब्रज पहुँचे और लगे गोपियों को ज्ञानोपदेश करने । परन्तु वहाँ गोपियों ने उन्हें इतनी कड़ी फटकार बताई कि उनका ज्ञानसागर

बिलकुल ही सूख गया । गोपियों के प्रेम की आँधी से उनका ज्ञानयोग यहाँ तक उड़ गया कि वे उलटा उन्हीं 'व्यभिचारदुष्ट' बनचरी नारियों के चेले हो गए । उन्हें अन्त में भगवान् से प्रार्थना करनी पड़ी । उन्होंने कहा—

इन गोपियों के चरणों की रज वृन्दावन के जिन पेड़-पौधों और लता-गुल्मादिकों पर पड़ती है वे धन्य हैं—उनके सदृश पावन और कोई चीज नहीं । ये गोपियाँ साधारण स्त्रियाँ नहीं । अपने दुस्त्यज कुटुम्बियों और सर्व-सम्मत तथा परम्परागत पथ का परित्याग करके ये उस पथ से चलने वाली हैं जिसे श्रुतियाँ ढूँढ़ती फिरती हैं, पर उन्हें नहीं मिलता । इसी पथ की बदौलत ये भगवान् की पदवी को प्राप्त करने में समर्थ हुई हैं । अतएव मेरी कामना है कि मैं इसी ब्रज के किसी पेड़, पौधे, लता या गुल्म के रूप में कभी जन्म लेकर अपने को कृतार्थ करूँ । उद्धव की यह उक्ति सुनकर कौन ऐसा भगवत्प्रेमी है जिसका शरीर कण्टकित और कण्ठ गद्‌गद न हो जाय ?

हमने अपने इस जन्म में न तो कभी साधु-समागम किया, न किसी सुकृत ही का सम्पादन किया और न किसी तरह का और ही कोई सत्कर्म किया । इस कारण उद्धव के सदृश कामना करने के हम अधिकारी नहीं । अतएव, हमारी प्रार्थना इतनी ही है कि यदि पूर्वजन्मों में हमने कभी कोई सत्कार्य्य किया हो तो भगवान् हमें ब्रजमण्डल के किसी करीर का काँटा ही बना देने की कृपा करें ।

एक चरित्र

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

तरुणावस्था में प्रेम का उन्माद-रोग तो सभी नवयुवकों को हो जाता है, पर सभी के जीवन में प्रेम की विलक्षण घटनाएँ नहीं होतीं। अधिकांश की प्रेम-भावना उनके गृह-जीवन में ही समाप्त हो जाती है। अपने नगर में विशुद्ध प्रेम या ममता के यथार्थ रूप को मैंने एक व्यक्ति में पाया। वह पहलवान था। प्रतापगढ़ से आया था। सबसे पहले मैंने उसको रामबख्श भक्त के विश्राम-गृह में देखा। उसके शरीर की सुदृढ़ गठन देख कर सभी हठात् उसकी ओर आकृष्ट हो जाते थे। उसमें जहाँ तेज था, वहाँ सरलता भी थी, उसमें जैसी शक्ति थी, वैसी सहनशीलता भी थी। क्रोध तो उसमें था ही नहीं। चिन्ता को वह जानता ही न था। ऐसा जान पड़ता था कि वह बिलकुल निर्द्वन्द्व, निर्विकार था।

वह चुपचाप चाय पी रहा था। उसी समय एक दुबले-पतले युवक नें आकर उसे खूब झिड़क कर कहा—'वाह, उस्ताद, तुम यहाँ बैठे चाय पी रहे हो। मैं तुम्हें कितनी देर से खोज रहा हूँ, उठो।'

उसने नम्रतापूर्वक कहा—'चलता हूँ भैया, जरा आराम से चाय तो पी लूँ।'

वह युवक उसके उत्तर से और भी क्रुद्ध हो गया। दोनों में विवाद्-सा होने लगा। बात ही बात में उस दुबले-पतले युवक ने आवेश में आकर कहा 'चलते हो या यों ही बातें बनाओगे, ऐसा खींचकर थप्पड़ दूँगा कि फिर तुम बातें करना भूल जाओगे।'

उसकी यह अचिन्तनीय बात सुनकर मैं हँस पड़ा। उसकी वह उक्ति सचमुच उपहासास्पद थी। कहाँ वह मच्छड़ और कहाँ वह हाथी। परन्तु उस दुर्बल युवक ने अपनी दुर्बलता का जरा भी विचार नहीं किया। वह सचमुच क्रोध से उठ खड़ा हुआ; मुझको हँसते देखकर वह कुछ सहम-सा गया और तब वह पहलवान भी हँसने लगा। फिर उसने कहा—'चल भैया चल' तुझसे लड़कर सचमुच नहीं जीत सकता।'

इसके बाद रामबख्श की दूकान पर पहलवान से प्रायः प्रतिदिन ही भेंट हो जाती थी। मुझको यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता कि वह मान-अपमान, प्रशंसा-निन्दा, किसी की भी परवाह नहीं करता था। वह सभी से हँसकर बातें करता था। सभी की बातें सुन लेता था और सभी के काम करने के लिए सदैव तत्पर रहता था। अपनी शक्ति के कारण वह निर्बलों के प्रति सहिष्णु था। उनके अत्याचार तक को वह चुपचाप सह लेता था। उसके मुख पर सदैव प्रसन्नता बनी रहती थी।

एक बार बाहर से एक प्रसिद्ध पहलवान आया। उसके साथ उसकी कुश्ती हुई। उसने उस पहलवान को पछाड़ दिया। लोगों ने उसकी बड़ी प्रशंसा की, परन्तु उसने उत्तर दिया—'जो लड़ता है, वह कभी हारता है और कभी जीतता है। इसमें न कोई प्रशंसा की बात है और न निंदा की ही। अगर मैं हार गया होता तो जान पड़ता है कि जगह-जगह तुम लोग मेरी निन्दा करते-फिरते।

उसकी यह बात सुनकर उसके सभी प्रशंसा करने वाले चुप हो गए। कुछ को बुरा लगा पर वह निश्चिन्त होकर चाय पीने लगा।

एक दिन आकर उसने मुझसे कहा—'मास्टर साहब' यह कागज तो देखिए। इसमें क्या लिखा है?' मैंने उस कागज को पढ़ा। पढ़ने पर मालूम हुआ कि कप्तान साहब उस पर बहुत अप्रसन्न हो गये हैं। ऐसा जान पड़ता था कि वह नौकरी से हटा दिया जायगा। सारी बातें जान लेने के बाद उसने उस कागज को फाड़ दिया और कहने लगा—'जितना काम मैं कर सकता हूँ उतना मैं करता ही हूँ। अगर मेरे अफसर संतुष्ट न हों तो मैं कर ही क्या सकता हूँ?' यह कह कर उसने रामबख्श से कहा—'रामबख्श चाय दो'—और वह प्रसन्नचित्त होकर चाय पीने लगा।

दो-चार दिनों के बाद फिर पहलवान ने मुझको एक कार्ड दिखलाया। वह कार्ड उसके भाई ने देश से लिखवा कर भेजा था। उससे पता चला कि घर की स्थिति खराब हो गई है। उसके भाई को बड़ी चिन्ता है, वह कष्ट में है। वह चाहता है कि उसका भाई कुछ दिनों के लिये घर आ जाय और वहाँ आकर कुछ प्रबन्ध कर दे। पहलवान ने सब बातें सुन, मुझको इसका उत्तर लिख देने को कहा। उसने जो उत्तर लिखाया उसका मर्म यह था कि संसार में सभी जगह सुख और दुःख है। हमें सुख भी होते हैं और दुःख भी। इतने दिनों तक हम सुख में थे, अब कुछ समय के लिये यदि दुःख भी भोगना पड़े तो इसमें कौन-सी अचरज की बात है। यह चिन्ता की बात नहीं! जैसी स्थिति है, तुम्हें वैसा ही काम करना चाहिए। यह उत्तर लिखा कर बड़ी निश्चिन्तता से उसने रामबख्श को चाय लाने के लिए कहा। फिर वह चाय पीने लगा।

कुछ दिन और व्यतीत हो गए। इसके बाद भेंट होने पर उसने मुझसे कहा—'मास्टर साहब, आपको फिर एक खत लिखना पड़ेगा। फिर एक नई विपत्ति आ गई है।'

मैंने सहानुभूति के स्वर में पूछा—'कैसी विपत्ति है?' उसने हँसकर कहा—'मेरी माँ मृत्यु-शैय्या पर है। कौन जाने इस पत्र का उत्तर जाने तक वह जीवित रहेगी कि नहीं?'

मैंने कहा—'सचमुच यह बड़ी विपत्ति की बात है। आप छुट्टी लेकर घर चले जाइये और कम से कम माँ के अन्तिम दर्शन तो कर लीजिए।'

उसने कहा—'यदि माँ का दर्शन मेरे भाग्य में रहता, तो गाँव से इतनी दूर अपने जीवन-निर्वाह के लिए आना ही क्यों पड़ता ? क्या किया जाय ! मेरे भाई वहाँ हैं, वही मेरी माँ की सेवा करते होंगे। किसकी माँ, कब तक किसका साथ देगी ? उसने मेरा पालन-पोषण कर इतना बड़ा बना दिया। अब मैं भटक रहा हूँ तो अपने भाग्य से। आप मेरे लिए कार्ड लिख दीजिए।'

मैंने उसके कहने से जो कुछ लिखा, उसका सार यह था—'संसार में किसी के माता-पिता सदैव जीवित नहीं रहते, इसी लिए उसे यह सुनकर दुःख नहीं हुआ कि अब उसकी माता का अन्तिम काल उपस्थित हो गया है। माँ का अन्तिम दर्शन करना मेरे भाग्य में नहीं था।'

इसी प्रकार सभी भाँति की आपत्तियों को वह हँसते-हँसते टाल देता था। उसके लिए अर्थ-कष्ट तुच्छ था। मृत्यु एक स्वाभाविक घटना थी, जीवन एक खेल था। मुझको यही प्रतीत होता था कि काल के सभी आघात उस पर किसी प्रकार का प्रभाव डाल नहीं सकते। उसने मानो मृत्यु के विरुद्ध एक अभेद्य कवच पहन लिया था। सभी संकट उसके लिए नगण्य थे, सभी कष्ट उसके लिए उपेक्षणीय थे और सभी अवस्थाएँ उसके लिए अच्छी थीं। वह एक काम से हट कर दूसरे काम में लगा पर उसे न हर्ष हुआ न विषाद। वह हेड कानिस्टबिल बन गया, पर उसने अपनी दिनचर्या नहीं बदली। वह जैसा पहले रहता था, वैसे अब भी रहने लगा। अफसरों की कृपा या अकृपा उसे विचलित नहीं करती थी। किसी प्रकार की बाधा या विघ्न उसके जीवन में क्षोभ ला ही नहीं सकते थे।

परन्तु एक दिन जब मैं प्रातःकाल रामबख्श की दूकान में गया, तब मैंने उसको अत्यन्त विषण्ण देखा। वह बिलकुल चुप बैठा था। किसी की

ओर उसकी दृष्टि नहीं थी। उसके चेहरे पर किसी गंभीर वेदना का भाव झलक रहा था। ऐसा जान पड़ता था मानों वह अपना सर्वस्व खो बैठा है, मानों अब उसमें कोई उमंग नहीं, कोई लालसा, उत्साह या तेज नहीं है।

मैंने घबड़ाहट के साथ पूछा—'पहलवानजी' आप कुशलपूर्वक तो हैं न ?

उसने नैराश्यपूर्ण स्वर में उत्तर दिया—'जी हाँ, मैं अच्छी तरह हूँ।

मैंने फिर पूछा—'घर में सब अच्छी तरह से तो हैं ? कोई बुरी खबर तो नहीं आई है ?'

उसने उत्तर दिया—'सब अच्छी तरह हैं। क्या कोई बुरी खबर आयगी ?'

मैंने कहा—'पर आज आप बहुत उदास हैं ? क्या बात हुई ? कोई झंझट बखेड़ा तो नहीं हुआ ?

उसने कहा—'कोई बात नहीं हुई है।'

उसने एक दीर्घ निश्वास लेकर कहा—'क्या कहूँ, मैं तो अपना सर्वस्व खो बैठा हूँ।' मैंने विस्मित होकर पूछा क्या बात हुई ?'

वह कहने लगा—'मेरा तीतर न जाने कहाँ चला गया है ? न जाने कौन जानवर उसे उठा ले गया, कुछ पता नहीं चलता। उसका पिंजड़ा खाली है। सभी जगह ढूँढ़ डाला। कितने ही वर्षों से वही एक मेरा साथी है। भगवान् जाने वह कहाँ है ? मैं इसी चिन्ता में व्याकुल हूँ।'

मैंने उसे सान्त्वना देते हुए कहा—'मिल जायगा, इधर-उधर कहीं होगा, आप घबराइए मत।'

मैंने फिर रामबख्श को चाय लाने के लिए कहा, परन्तु उसने कहा—'मास्टर साहब, मैं आज चाय नहीं पी सकता। मैं आज काम पर भी नहीं गया हूँ। मेरा मन बड़ा अधीर हो रहा है।'

यह कह कर वह उठकर चला गया। मैं भी चाय पीकर घर चला गया। फिर खा-पीकर मैं स्कूल चला गया। अपने ही कार्य में व्यग्र रहने के कारण मुझे उस पहलवान के दुःख की बात याद ही नहीं रही। एक बजे जब छुट्टी हुई तब दौड़ता हुआ वह पहलवान स्कूल आया। ज्यों ही उसने मुझको देखा त्यों ही चिल्ला उठा—'मास्टर साहब, मिल गया। मेरा तीतर मिल गया, मैं आपको खबर देने आया हूँ।'

मैंने देखा—उसके चेहरे पर आनन्द की अपूर्व ज्योति थी। उसने अपनी अमूल्य-निधि पा ली थी। उसे अपना खोया धन मिल गया था। तब उसे क्यों न आनन्द होगा ? संसार की सभी स्पृहणीय वस्तुओं को उसने उपेक्षणीय समझ लिया था। उसकी सारी कामनाएँ एक तीतर में बद्ध थीं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

नन्ददुलारे वाजपेयी

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी-आलोचना के लिए युग-प्रवर्तक कार्य कर गए हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय तक हिन्दी-आलोचना अपने नये रूप में अवतरित नहीं हुई थी। तब तक वह लक्षण-ग्रन्थों में रसों, अलङ्कारों, नायकों और विशेषकर नायिकाओं की सूची-मात्र बनी हुई थी। वैसे, मैं यह मानता हूँ कि रस और अलंकार, नायक और नायिका— साहित्यिक आलोचना के आधारभूत तत्व ये ही हैं पर जिन लक्षण-ग्रन्थों की बात मैं कह रहा हूँ उनमें इन तत्वों की मीमांसा बहुत ही स्थूल रूप से की गई थी। इसका नतीजा यह हुआ कि साहित्यिक-शास्त्र अथवा साहित्यिक-अनुशासन का कार्य इन लक्षण-ग्रन्थों से नहीं सध सका। अनुशासन तो दूर, साहित्य का साधारण मार्ग-निर्देश अथवा अच्छे-बुरे की पहचान तक ये नहीं करा सके। फिर इन्हें आलोचना-ग्रन्थ किस अर्थ में कहा जाय, यह भी एक समस्या ही है।

उदाहरण के लिए लक्षण-ग्रन्थों में उल्लेख किए गए किसी भी रस के एक प्रसंग को ले लीजिए। मान लें हम 'शृंङ्गार-रस' का कोई प्रसंग लेते हैं। लक्षण-ग्रन्थ द्वारा हम यह तो जान गए कि उक्त उद्धरण शृङ्गाररस का है। किन्तु वह रस छिछले अथवा कितने सौम्य-शृंगार का

है इसकी तुलनात्मक और मनोवैज्ञानिक विवेचना हम साधारणतः लक्षण-ग्रंथों में नहीं पाते। दूसरी बात यह कि उस 'रस-विशेष' की अभिव्यञ्जना कितनी शक्तिपूर्ण अथवा निःशक्त प्रणाली से हुई है यह कलात्मक विवेचना भी उनमें कम ही दिखाई देती है। तीसरी बात यह कि उस छिछले अथवा सौम्य-शृङ्गार की सामाजिक पृष्ठ-भूमि क्या है—किन परिस्थितियों की वह प्रतिक्रिया है और सामाजिक जीवन पर वह किस प्रकार का असर डालेगा, इसके जानने का भी कोई साधन नहीं रहता। चौथी और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि रचनाकार की अपनी मानसिक स्थिति का भी हमें पता नहीं लगता। आलोचना के ये ही प्रधान सूत्र हैं और लक्षण-ग्रन्थों में इन्हीं का अभाव था।

साहित्यिक ह्रास के युग में आलोचना का भी ह्रास हो जाता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पूर्व जो दशा साहित्य की थी वही इन लक्षण-ग्रन्थों की भी। दोनों संस्कारहीन, परम्पराबद्ध और अन्तर्दृष्टिरहित हो रहे थे।

जिस प्रकार के लक्षण-ग्रन्थ हिंदी में प्रस्तुत किए गए उन्हें देखते हुए यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि इन लक्षण-ग्रंथों का प्रस्तुत किया जाना किसी समुन्नत साहित्य-युग में सम्भव न था।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से स्थिति में परिवर्तन हो चला। आँखें खुलीं और यह आभासित हुआ कि रस किसी छन्द में नहीं है, यह तो मानव-संवेदना के विस्तार में है। नायक-नायिका कवि जी कि कल्पना में निर्माण होने के लिए नहीं हैं। प्रगतिशील संसार की नानाविधि परिस्थितियों और सुख-दुःख की तरंगों में डूबने-उतराने और घुलकर निखरने के लिए है और काव्य-कला का सौष्ठव भी अनुभूति की गहराई में है, शब्दकोष के पन्ने उलटने में नहीं।

यह प्रकाश हमें इस बार पश्चिम से मिला। सुनने में यह बात आश्चर्य-जनक मालूम होती है, पर यह सच है कि तुलसीदास का महत्व हमने डाक्टर ग्रियर्सन से सीखा। उसके पहले गोसाईं जी के 'मानस' का एक

धार्मिक ग्रन्थ के रूप में आदर अवश्य था, पर काव्य तो बिहारीलाल, पद्माकर और केशव का ही उत्कृष्ट समझा जाता था। उसके पहले क्या उसके पीछे भी हमारे साहित्य में ऐसे 'अन्वेषकों' की कमी नहीं रही जिन्होंने बिहारी की होड़ में 'देव' को तो ला रक्खा पर कबीर, मीरा, रसखान और जायसी के लिए मौन ही रहे। हमारे विश्वविद्यालयों ने इन अन्वेषकों को सम्मानपूर्ण डिग्रियाँ भी दी हैं। रीतियुग के ये 'अपटूडेट' हिन्दी-प्रतिनिधि हैं।

ठीक इसके विपरीत पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी साहित्य में रीति-कालीन परम्परा के घोर विरोधी और कट्टर नैतिकता के पक्षपाती थे। उन्होंने सामयिक आदर्शों को प्रधानता दी और पुराने कवियों के मुकाबले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा श्री मैथिलीशरण जी के काव्योत्थान की सराहना की। किसी विशेष वाद अथवा विचारधारा का काव्य में प्रवेश होना ही उसके उत्कर्ष का साधक है, कुछ ऐसी धारणा द्विवेदी जी की थी। आज के प्रगतिशील आलोचकों का भी ऐसा ही मत है। यह विचारधारा या वाद काव्य की अपनी सत्ता के साथ एकाकार हो गया है या नहीं, यह वे नहीं देखना चाहते। मेरे विचार से यह दूसरी हद है। जो कुछ हो, इस अग्रगामिता का प्रसाद द्विवेदी जी को यह मिला कि कई बार प्रस्ताव किए जाने पर भी विश्वविद्यालयों ने उन्हें सम्मानित डिग्री देना अस्वीकार कर दिया। यही आशा भी की जाती थी।

प्रतिभा किसी कठघरे में बन्द नहीं रहती। यद्यपि द्विवेदी जी साहित्य की अपेक्षा भाषा के अधिक बड़े आचार्य थे पर साहित्य में भी उनकी पैनी निगाह पहुँच कर ही रही।

इस समय के आसपास पं० पद्मसिंह शर्मा भी आलोचना के क्षेत्र में आए। शर्मा जी 'बिहारी' की काव्यकला के बड़े प्रशंसक थे। वे उर्दू-फारसी के भी पण्डित थे और हिन्दी में यदि उन्हें उर्दू-फारसी का मुकाबला कर सकने वाला काव्य-चमत्कार कहीं मिल सकता था तो बिहारी में ही। पर

काव्य-चमत्कार ही काव्य नहीं है, शर्मा जी इस बात से अपरिचित नहीं थे, उनमें इतनी भावुकता और रसज्ञता थी कि इन दोनों के अन्तर को समझ सके तो भी उनका झुकाव चमत्कार और काव्यसज्जा की ओर अधिक था। उनकी शक्ति इस बात में थी कि उनकी निगाह अभिव्यक्ति के सौन्दर्य या अलंकार पर हठात् जा टिकती थी। उनकी कमजोरी इस बात में थी कि उस सौंदर्य का परिचय कराने के लिए उनके पास 'कलम तोड़ दी' वाली शैली का ही सहारा था। पर इसमें सन्देह नहीं कि वे अभिव्यञ्जना-सौंदर्य के अद्भुत पारखी थे।

काव्य अथवा कला का संपूर्ण सौंदर्य अभिव्यंजना का ही सौन्दर्य नहीं है। अभिव्यञ्जना ही काव्य नहीं है। काव्य अभिव्यञ्जना से उच्चतर तत्त्व है। उसका सीधा सम्बन्ध मानव-जगत् और मानस-वृत्तियों से है, जब कि अभिव्यंजना का सम्बन्ध केवल सौंदर्यपूर्ण प्रकाशन से है। किन्तु शर्माजी प्रकाशन से ही नहीं प्रकाश से भी जानकारी रखते थे, यह बात उनके लेखों से यत्र-तत्र प्रकट होती है। विशेषकर आधुनिक कवियों के सम्बन्ध में लिखते हुए उन्होंने अपनी यह योग्यता प्रकट की है।

हमारे कितने ही नये समीक्षक ज्ञात या अज्ञात रूप से शर्मा जी के ही रास्ते पर चल रहे हैं। नये कवियों के उद्धरण दे देकर कुछ नपे तुले वाक्यों में प्रशंसा कर देने तक ही उनकी समीक्षा सीमित है। शर्मा जी से वे किसी भी अर्थ में आगे नहीं बढ़ सके हैं, पर उनका उपहास करने में वे बहुत आगे हैं।

इसी समय मेरे गुरुदेव अध्यापक श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन' ग्रन्थ प्रकाशित हुआ जिसमें साहित्य सम्बन्धी कुछ सैद्धान्तिक व्याख्या में मनोवैज्ञानिक निरूपण और व्यावहारिक (साहित्य-तन्त्र विषयक) निर्देश किए गए थे। इस ग्रन्थ का बड़ा ही मार्मिक प्रभाव हिन्दी के आलोचना-क्षेत्र पर पड़ा।

हिन्दी-आलोचना की इसी आरम्भिक किन्तु नवचेतन अवस्था में पं० रामचन्द्र शुक्ल का आगमन हुआ। उन्होंने रस और अलंकार-शास्त्र को नवीन मनोवैज्ञानिक दीप्ति दी और उन्हें ऊँची मानसिक भूमि पर ला बिठाया। इस प्रकार रस और अलंकार हिन्दी-समीक्षा से बहिष्कृत हो जाने से बचे। दूसरे शब्दों में, शुक्लजी ने समीक्षा के भारतीय साँचे को बना रहने दिया। यही नहीं, उन्होंने इस साँचे के लिए यह दावा भी किया कि भविष्य की साहित्य समीक्षा का निर्माण इसीके आधार पर होना चाहिए।

यह दावा करते हुए शुक्लजी ने 'रस और अलंकार' आदिकों को लक्षण-ग्रन्थों वाले निःशक्त रूप में न रहने देकर उन्हें नवीन प्राणों से अनुप्राणित कर दिया। उन्होंने उच्चतर जीवन सौंदर्य का पर्याय बनाकर 'रस और अलंकार' पद्धति का व्यवहार किया।

जहाँ तक उनकी प्रयोगात्मक (व्यावहारिक) आलोचना है, उन्होंने तुलसी और जायसी जैसे उच्चतर कवियों को चुना और उनके ऊँचे काव्य-सौन्दर्य के साथ 'रस और अलंकार' का विन्यास करके 'रस-पद्धति' को अपूर्व गौरव प्रदान किया और साथ ही उन्होंने काव्य की स्थापना ऐसी ऊँची मानसिक संवेदना के स्तर पर की कि लोग यह भूल गए कि रसों और अलंकारों का दुरुपयोग भी हो सकता है।

मेरे कहने का मतलब यह है कि शुक्लजी ने अपनी उच्च काव्यभावना के बल पर समीक्षा की जो शैली निर्धारित की वह उनके लिए ठीक थी। वे स्वतः तुलसी, सूर और जायसी जैसे कवियों की ही प्रयोगात्मक समीक्षा की ओर प्रवृत्त हुए जिससे उनकी आलोचना के पैमाने आप-ही-आप स्खलित होने से बचे रहें। उत्थानमूलक, आदर्शवादी विचारणा से उनका कभी सम्पर्क नहीं छूटा।

किन्तु शुक्लजी ने हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास भी लिखा है और यहाँ उन्हें सभी प्रकार के कवियों से संयुक्त होना पड़ा है। यहाँ शुक्लजी ने अपने समीक्षा सम्बन्धी पैमानों का प्रयोग अधिकतर इतनी

सफलता के साथ किया है कि उनका साहित्यिक इतिहास कवियों और काव्य-धाराओं के मूल्य-निर्धारण में त्रुटिपूर्ण नहीं प्रतीत होता ।

अवश्य जहाँ-जहाँ और जब-जब शुक्ल जी ने अपनी काव्यमाप में कुछ व्यक्तिगत रुचियों को प्रवेश करने दिया है—उदाहरण के लिए कथात्मक साहित्य या प्रबन्ध रचना को मुक्तक काव्य पर तरजीह दी और निर्गुण-सगुण की दार्शनिक धाराओं में सगुण पक्ष की वकालत की—वहाँ-वहाँ उन्हें अक्सर काव्य की परख करने में कठिनाई हुई है । डी० एल० राय में रवीन्द्रनाथ की अपेक्षा उच्चतर भाव-संवेदन का निरूपण करना इसी प्रकार के पक्षपात का परिणाम है । इसीके फलस्वरूप उन्हें हिंदी के आधुनिक कवियों में भी कुछ अनधिकारियों अथवा अल्प-अधिकारियों को उचित से अधिक महत्व देना पड़ता है ।

संवेदना या रसानुभूति के आधार पर स्थिर होनेवाली काव्य-समीक्षा के लिए दो शर्तें अनिवार्य हैं—एक यह कि समीक्षक का व्यक्तित्व समुन्नत हो और दूसरी यह कि उसमें कला का मानसिक आधार ग्रहण करने की पूरी शक्ति हो—किसी मतवाद का आग्रह न हो ।

शुक्लजी में उच्च कोटि की काव्य-रसज्ञता थी, इसमें सन्देह नहीं । साथ ही उनकी कुछ निजी रुचियाँ और आग्रह भी थे जिन्हें उन्होंने दबाया नहीं । इसका मुख्य कारण यह है कि उनमें आलोचना के साथ-साथ रचनात्मक प्रेरणाएँ भी बड़ी प्रमुख थीं । स्वतन्त्र रचना के लिए स्वतन्त्र अभिरुचि का होना आवश्यक है किन्तु काव्य-समीक्षक को अधिक से अधिक निष्पक्ष होना चाहिए । साहित्य के वैज्ञानिक अनुसन्धान-कार्य के लिए यह निष्पक्षता बहुत आवश्यक है ।

रचनाकार और समीक्षक के लिए अलग-अलग रास्ते हैं । एक के लिए व्यक्तिगत अभिरुचि का अपार क्षेत्र खुला है, दूसरे के लिए उसकी गुंजाइश नहीं, उसे पूरी तटस्थता बरतनी होगी ।

यहाँ पूरी तटस्थता से हमारा मतलब निर्विकल्प या Absolute तटस्थता से नहीं है वह तो सम्भव नहीं है। समीक्षक अपने बाहरी (सामाजिक) और भीतरी (व्यक्तिगत) संस्कारों से बरी नहीं हो सकता। वह एक समय और एक वर्ग का लगाव छोड़ नहीं सकता। यहाँ तटस्थता से मेरा मतलब यह नहीं कि वह अपनी सामाजिक और संस्कार-जन्य इयत्ता खो दे। यह सम्भव भी नहीं है। इससे तो समीक्षक के अपने व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है। मेरा मतलब सिर्फ यह है कि इन व्यक्तिगत पहलुओं के होते हुए भी जहाँ तक काव्य के कलात्मक स्वरूप और मनोभूमि के विश्लेषण का प्रश्न हैं, समीक्षक को तटस्थता कायम रखनी चाहिए।

समीक्षा की तटस्थता से यह आशय न निकालना चाहिए की उस समीक्षा का सामाजिक सम्पर्क छूटा हुआ है। मैं इस सम्पर्क का लेख के आरम्भ में ही आग्रह कर चुका हूँ और यह सम्पर्क छूट जाने से लक्षण-ग्रंथों के द्वारा समीक्षा-क्षेत्र की जो दुर्दशा हुई उसका भी उल्लेख कर आया हूँ। शुक्लजी की काव्य-समीक्षा में बड़े समारोह के साथ इस सामाजिक सम्पर्क का आवाहन है। यह हिंदी-आलोचना के लिए बड़े महत्व की बात सिद्ध हुई। बल्कि मैं तो यह कहूँगा कि नव्यतर सामाजिक प्रगति से (विशेषतः राजनीति से) घनिष्ठ सम्बन्ध न रहने के कारण शुक्ल जी साहित्य की आधुनिक प्रवृत्तियों से उतना अधिक तादात्म्य नहीं स्थापित कर सके जितना उनके जैसे इस क्षेत्र के अधिनायक से आशा की जाती थी।

युग की संवेदनाओं से समीक्षा का घनिष्ठ परिचय होना चाहिए तभी वह युग के साहित्य का आकलन सम्यक् रूप से कर सकेगा। जिन नूतन स्थितियों और प्रेरणाओं से नवीन काव्य का निर्माण हुआ है, जिन नवीन वादों की सृष्टि हुई है और जो नई शैलियाँ साहित्य में अपनाई गई हैं, उनका जब तक परिचय नहीं, तब तक साहित्य का मूल्यांकन क्या होगा?

किन्तु घनिष्ठ-से-घनिष्ठ परिचय में भी तटस्थता समीक्षक के लिए अत्यावश्यक है। यह तटस्थता सफल विश्लेषण की पहली शर्त है।

जिस प्रकार शुक्लजी ने काव्य और कलाओं के सामाजिक सम्पर्क की आवाज उठाई उसी प्रकार उन्होंने रचनाकार की व्यक्तिगत मन-स्थिति का भी हवाला दिया है। रचयिता की मन-स्थिति का पता लगाना आधुनिक काव्य-विवेचन आवश्यक समझता है। इसके लिए काव्यालोचक आज मनोविश्लेषण-विज्ञान की भरपूर सहायता लेना चाहते हैं। शुक्ल जी के समय यह विज्ञान हिंदी में कम व्यवहृत हुआ। इसका व्यवहार बड़ी विशेषज्ञता की अपेक्षा रखता है। रचनाकार के काव्यनिर्माण में उसके व्यक्तिगत संस्कारों का हाथ रहता है। वे संस्कार किस हद तक उसके काव्य को ऊँचा उठाते या नीचा गिराते हैं, यह प्रत्येक समीक्षक जानना चाहेगा। किन्तु इसे जानने के साधन उतने आसान नहीं हैं जितना हम अक्सर समझा करते हैं। शुक्लजी ने इस दिशा में आरम्भिक कार्य का सूत्रपात कर दिया था।

रचनाकार की मानसिक स्थिति का विश्लेषण उसके द्वारा निर्माण किए गए काव्यात्मक चरित्रों के आधार पर भी किया जाता है। कोई भी साहित्यिक रचना पढ़ने पर रचयिता के विचारों, उसकी मनोभावना और मूल-प्रेरणा का सामान्य रूप से अन्दाजा लग जाता है और मनोविश्लेषण शास्त्र द्वारा उस विषय की विशेषज्ञता प्राप्त की जाती है। किन्तु यदि रचनाकार के साथ अन्याय नहीं करना है तो बहुत अधिक सतर्कता के साथ हमें निर्णय करना होगा।

शुक्ल जी बहुत अधिक वादों के पक्षपाती नहीं थे। यूरोप के साहित्यिक क्षेत्रों में जो शीघ्र-शीघ्र वाद-परिवर्तन होते रहे हैं उन पर शुक्ल जी की आस्था नहीं थी। उन्हें बदलते हुए फैशन जैसी चीज समझते थे। उनका ऐसा समझना एक दृष्टि से ठीक भी है। पर इस विषय में एक दूसरी दृष्टि भी है, वह यह कि यूरोप का साहित्य अतिशय समृद्ध

साहित्य है। वहाँ नई-नई कला-शैलियों का आविर्भाव और प्रचार होना स्वाभाविक है। प्रत्येक साहित्य अपनी समृद्धि की अवस्था में बहुविध वेश-विन्यास करेगा ही, यह उसका अनिवार्य गुण है। तब देखना यह होगा कि कहाँ वह केवल फैशन बन कर रह गया है और कहाँ उसमें गहराई आई है।

ठेठ कला अथवा रचना-प्रणाली की मीमांसा अभी हमारे साहित्य में बहुत कम हुई है। यह साहित्यिक विवेचना का एक प्रधान अङ्ग करीब-करीब सूना पड़ा है। यहाँ रचना-प्रणाली से हमारा मतलब भाषा शैली से नहीं है; बल्कि उस कारीगरी से है जो साहित्य को सौंदर्य या कला की वस्तु बनाती है।

जिस प्रकार अनेक काव्यवादों की उलझन में शुक्ल जी नहीं पड़े, उसी प्रकार सामाजिक या राजनैतिक क्षेत्र की विचारधाराओं की उन्होंने उपेक्षा की। कुछ लोग इसी कारण उन्हें कोरा साहित्यिक घोषित करते हैं। वे इसे उनकी एक प्रधान त्रुटि भी ठहराते हैं और उनका कहना है कि इसी कारण शुक्ल जी वास्तविक अर्थ में हमारे आधुनिक साहित्य का नेतृत्व नहीं कर सके। इस सम्बन्ध में हमें दो बातें कहनी हैं। एक यह कि शुक्ल जी की एक विशेष समाजनीति अथवा सामाजिक सिद्धान्त (जिसमें राजनीति भी सम्मिलित है) अवश्य था। सम्भव है वह सिद्धांत अपनी पूरी रूप-रेखा के साथ उपस्थित न किया गया हो पर उसका एक सामान्य रेखा-चित्र हमें शुक्ल जी की सभी मुख्य रचनाओं में मिलता है। बल्कि कहीं-कहीं तो उसका पिष्टपेषण खटकने भी लगता है। वह सिद्धांत क्या है, इसे शुक्ल जी के सभी पाठक जानते हैं। उसे उन्होंने लोकधर्म का सिद्धान्त कहा है और भारतीय वर्णाश्रम धर्म के साँचे के अन्तर्गत उसे ढालने की चेष्टा की है। वर्णाश्रम धर्म से शुक्ल जी का आशय हिन्दू धर्म से नहीं है बल्कि किसी भी ऐसे सामाजिक सङ्गठन से है जिसमें कर्तव्यों और अधिकारों के सामंजस्य और समीकरण की चेष्टा की गई हो।

शुक्ल जी का लोक-धर्म का सिद्धान्त मध्यवर्ग की उन आदर्शात्मक प्रेरणाओं से ओत-प्रोत है जो बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण की विशेषता थी। अपने स्वाभाविक गाम्भीर्य के कारण शुक्ल जी 'रामचरितमानस' के महाकाव्योचित प्रसङ्गों में रम गये थे। इससे यह निष्कर्ष न निकालना चाहिए कि आधुनिक समय के लिए उनकी कोई चिन्तना नहीं थी।

दूसरी बात यह है कि आज की हमारी विचारणा वर्गों के आधार पर आ ठहरी है। इसके पहले वह राष्ट्रीयता के आधार पर स्थित थी और अब भी बहुत अंशों में स्थित है। शुक्ल जी के विचारों में हिंन्दू-समाज-पद्धति और आदर्शवाद का प्रधान स्थान है। उसे एक सार्वदेशिक व्यवस्था का रूप शुक्ल जी ने दिया है। वह कहाँ तक व्यवहार्य है, यह एक दूसरा प्रश्न है। वह कहाँ तक नई विचारधारा और शब्दावली से मेल खाती है, यह और भी अलग प्रश्न है।

यदि शुक्ल जी में अपने समय और समाज की सीमाएँ हैं तो सवाल यह है कि इन सीमाओं से बचा कौन है? महत्व सीमाओं का नहीं है महत्त्व है सीमाओं के भीतर किए गए काम का। शुल्क जी ने अपने समय की एक अर्द्धजाग्रत-साहित्य-चेतना को दिशाज्ञान दिया। रास्ता सुझाया ही नहीं, स्वयं आगे-आगे चले और मंजिल तय किए। विपर्यस्त लक्षण-ग्रंथों की परम्परा को साहित्य शास्त्र की पदवी पर पहुँचाया, उसे आदर्शात्मक स्वरूप दिया। अपने उच्चकोटि के व्यक्तित्व और अध्ययन की छाप वे साहित्य पर छोड़ गए हैं। प्रांजलता और महाकाव्योचित औदात्य के लिए यह युग शुक्ल जी को स्मरण करेगा। साहित्य-समीक्षक की हैसियत से सबसे बड़ी बात शुक्ल जी में यह नहीं है कि उन्होंने उच्चतर काव्य को निम्नतर काव्य से अलग किया, बल्कि उन्होंने वह ज्ञान दिया कि हम भी उस अन्तर को पहचान सकें। यह उनका पहला काम था। तुलसी, जायसी और सूर की समीक्षाओं द्वारा उन्होंने हिन्दी आलोचना को सुदृढ़ भित्ति पर स्थापित किया। यह भित्ति इतनी मजबूत है जितनी भारत की किसी भी

प्रान्तीय भाषा की भित्ति हो सकती है। शुक्लजी की सबसे बड़ी विशेषता है समीक्षा के सब अंगों का समान रूप से विन्यास। अन्य प्रान्तीय भाषाओं में समीक्षा के किसी एक अंग को लेकर शुक्लजी की टक्कर लेनेवाले अथवा उनसे विशेषता रखनेवाले समीक्षक मिल सकते हैं पर सब अंगों का समान विकास उनका-सा कोई कर सका है, मैं नहीं जानता। जितना उत्कर्ष उन्हें साहित्य के सिद्धान्तों का निरूपण करने में प्राप्त हुआ उतनी ही दक्षता उन्हें सिद्धातों का व्यावहारिक प्रयोग करने में हासिल हुई। पांडित्य में उनकी अप्रतिहत गति थी, विवेचना की उनमें विलक्षण शक्ति थी। वे आलोचक या समीक्षकमात्र नहीं थे, सच्चे अर्थ में साहित्य के आचार्य थे।

समीक्षक की हैसियत से शुक्ल जी का आदर्श बहुत ऊँचा है और उनका एक संदेश है जिसे आज के समीक्षकों को स्मरण रखना चाहिए। वह सन्देश यह है कि साहित्य की समीक्षा किसी एक अंग या पहलू पर समाप्त न हो जानी चाहिए बल्कि वह सब अङ्गों को ध्यान में रखकर की जानी चाहिए। आज हिन्दी में जो कोई समीक्षा के जिस किसी कोने को पकड़ पाता है उसे ही खींच चलता है। यह समझने की जरूरत नहीं समझी जाती कि इस खींच-तान से साहित्य का कोई लाभ नहीं है, बल्कि इससे साधारण पाठकों में भ्रम ही फैला करता है। शुक्ल जी ने इस प्रवृत्ति को साहित्यिक कनकौआ उड़ाना कहा है, और उन्होंने इसका ठीक ही नामकरण किया है। यह प्रवृत्ति हमें साहित्य की समीक्षा में बहुत दूर तक नहीं ले जा सकती, साहित्य की अन्तरात्मा के दर्शन तो करा ही नहीं सकती। शुक्ल जी ने हिन्दी-समीक्षा में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। वे नए युग के विधायक थे। यद्यपि हम यह कहेंगे कि शुक्ल जी की व्यक्तिगत अभिरुचियों और धारणाओं ने विशुद्ध काव्यालोचन में सदैव सहायता ही नहीं पहुँचाई, अनेक बार अड़चनें भी डालीं और शुक्ल जी की समीक्षा में युग की सीमाएँ भी स्वभावतः मौजूद हैं।

———

अहल्या उद्धार की कथा का विकास

डा० धीरेन्द्र वर्मा

पौराणिक कथाओं के विकास का इतिहास बड़ा रोचक है। उदाहरण के लिए यहाँ अहल्या-उद्धार की कथा के भिन्न-भिन्न रूप दिए जा रहे हैं। विश्वास है, पाठकगण विकास की दृष्टि से इन्हें अत्यन्त रोचक पाएँगे।

अहल्या की कथा का सबसे प्रथम उल्लेख ब्राह्मण ग्रंथों[1] में आता है। शतपथ-ब्राह्मण में एक स्थान पर इन्द्र को "अहल्यायै जार" (III,३,४,१८) कहा गया है। षड्विंश ब्राह्मण (१,१) में "अहल्यायै जार" की व्याख्या करते हुये स्पष्ट शब्दों में कहा है कि इन्द्र अहल्या-मैत्रेयी का जार था। जैमिनीय ब्राह्मण (१,७९) में भी इसी प्रकार का एक उल्लेख मिलता है। किन्तु अहल्या की कथा का विस्तार-पूर्वक वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों में नहीं मिलता। अहल्या उद्धार का तो बिल्कुल उल्लेख नहीं है।

अहल्या-उद्धार की कथा का पहला विस्तृत वर्णन[2] वाल्मीकि रामायण (बालकांड, सर्ग ४८-४९) में मिलता है। वाल्मीकि की कथा का सार इस प्रकार है—

---

(१) देखिए, कीथ-मैकडानेल के वैदिक इंडेक्स में "अहिल्या-मैत्रेयी"।

(२) बाबू शिवनंदनसहाय द्वारा विरचित गोस्वामी तुलसीदास के जीवनचरित (पृष्ठ ४०४-४०५) में इस विषय का प्रथम उल्लेख किया गया है।

मिथिला के उपवन में एक पुराने, निर्जन किंतु रम्य आश्रम को देखकर रामचन्द्र ने विश्वामित्र से पूछा कि भगवन्! यह किसका आश्रम था और अब क्यों खाली पड़ा है? इस पर महामुनि विश्वामित्र ने नीचे लिखी कथा सुनाई। पूर्व-काल में यह महात्मा गौतम का आश्रम था और वह अहल्यासहित यहाँ रहा करते थे। एक बार सहस्राक्ष शचीपति मुनि-वेष धारण करके आए। जिस समय इन्द्र वापस जाने लगे, तो कुटी के द्वार पर महामुनि गौतम ने, जो कुटी की ओर आ रहे थे, उन्हें देख लिया। मुनि-वेषधारी इन्द्र को देख कर मुनि को बड़ा क्रोध आया और उन्होंने शाप दिया कि तू नपुंसक हो जा। ऐसा ही हुआ भी। इन्द्र को शाप देकर उन्होंने अपनी भार्या को भी शाप दिया कि तू निराहार, केवल वायु भक्षण कर, भस्मशायिनी तप करती हुई और सब भूतों की दृष्टि से छिपी हुई हजारों वर्षों तक इस आश्रम में रहेगी। जब दशरथात्मज राम इस घोर वन में आवेंगे, तब तू पवित्र होगी और उनके आतिथ्य द्वारा लोभ-मोह रहित हो, शरीर धारण कर मुझसे मिल सकेगी। इस प्रकार अहल्या को शाप दे, महामुनि गौतम इस आश्रम को छोड़ तप करने के लिए हिमालय को चले गए।

इसके अनन्तर विश्वामित्र ने इन्द्र के पुरुषत्व लाभ करने की कथा राम को सुनाई और अन्त में आश्रम में प्रवेश कर महाभागा अहल्या के तारने को कहा। विश्वामित्र के वचन सुन राम-लक्ष्मण ने आश्रम में प्रवेश किया और वहाँ तप की कांति से चमकनेवाली, सुर और असुर, दोनों के लिए दुर्निरीक्ष्य, धुएँ से ढकी हुई अग्निशिखा, तुषार से ढकी हुई पूर्ण चंद्रप्रभा अथवा बादलों में छिपी हुई सूर्य प्रभा के समान देवी अहल्या को देखा। रामचन्द्र के दर्शन से शाप का अन्त हो गया और उन लोगों को अहल्या के साक्षात् दर्शन हुए। तब राम-लक्ष्मण ने हर्षयुक्त हो अहल्या के पैर छुए और गौतम के वचनों का स्मरण कर अहल्या ने भी उन लोगों से भेंट की। पाद्य, अर्घ्य और आतिथ्य द्वारा सत्कार किया।

यह देख देवताओं ने पुष्पवृष्टि की और दुंदुभी बजाई और अप्सराओं ने बड़ा उत्सव मनाया। अहल्यासहित सुखी हो महामुनि गौतम ने भी राम का अच्छी तरह सत्कार किया। तदनंतर रामचन्द्र विदा हो मिथिला पहुँचे।

अहल्या-उद्धार की कथा का दूसरा विस्तृत वर्णन हमें अध्यात्म-रामायण (बालकांड, सर्ग ५) में मिलता है जो अध्यात्म-रामायण के वर्णन का आरंभ वाल्मीकि के सदृश ही है। मिथिला जाते हुए मार्ग में निर्जन आश्रम को देखकर रामचन्द्र ने विश्वामित्र से इस सम्बन्ध में प्रश्न किया और विश्वामित्र ने इन्द्र के दुराचार तथा गौतम द्वारा इन्द्र के शाप की कथा सुनाई। तदनन्तर हाथ जोड़े हुए और काँपती हुई अहल्या को देखकर गौतम बोले कि हे दुष्टे! तू निराहार, दिन-रात तप करती हुई, धूप, वायु और वर्षा को सहन करती हुई, हृदय-स्थित परमेश्वर राम का एकाग्र मन से ध्यान करती हुई मेरे आश्रम में शिला पर रह[1]। यह मेरा आश्रम समस्त जीवधारियों से रहित हो जायगा। हजारों वर्ष बीतने पर दाशरथि राम छोटे भाई-सहित आवेंगे और जब वे तेरे द्वारा आश्रित शिला को पैर से छुएँगे तब तू पापरहित हो, भक्ति से राम की पूजा कर तथा परिक्रमा और नमस्कार कर शाप से मुक्त होगी और पूर्ववत् मेरी शुश्रूषा सुखपूर्वक कर सकेगी। ऐसा कह गौतम मुनि हिमालय को चले गए। यह कथा सुनाकर विश्वामित्र रामचन्द्रजी का हाथ पकड़ कर ले गए और अहल्या को दिखला कर उसे पवित्र करने को कहा। तब राम ने पैर से शिला को छुआ और तपस्विनी अहल्या को देख नमस्कार कर "मैं राम हूँ" ऐसा कहा।

अहल्या ने जब रामचन्द्र को देखा, जो पीत कौशेय वस्त्र धारण किए हुए थे, चार हाथों में शंख, चक्र, गदा, पद्म लिए हुए थे, धनुर्बाण हाथ में था और लक्ष्मण उनके पीछे थे, तब गौतम के वचन का स्मरण कर

---

(१) 'शिलायां तिष्ठ' का अर्थ टीकाकार 'लीना भूत्वेति शेषः' करके कहते हैं।

उसे अत्यन्त हर्ष हुआ। वह समझ गई कि वे साक्षात् नारायण हैं, और उसने अर्घ्यादि से विधिवत् उनकी पूजा की व 'दण्डवत्' प्रणाम किया। फिर उठकर राजीव-लोचन राम को देख, पुलकायमान हो, गद्गद्-वाणी से बोली कि हे जगन्निवास ! जिन चरण-कमलों का ध्यान एकाग्र मन से शंकर आदि करते हैं, जिन चरण-कमलों के पराग से भागी-रथी पवित्र हुई हैं और जिन चरण-कमलों को अपने वक्षःस्थल पर रखकर लक्ष्मी उनकी सेवा करती हैं, उन आपके चरण-कमलों के रज-कण से मैं कृतार्थ हो गई। इसके अनन्तर अहल्या ने एक बड़े स्तोत्र द्वारा नारायण के अवतार रामचन्द्र की स्तुति की और फिर प्रणाम कर आज्ञा ले, अपने पति के पास चली गई। श्री महादेव पार्वतीजी से कहते हैं कि अहल्या के बनाए, इस स्तोत्र को जो कोई भक्ति से पढ़ता है, वह सब पापों से छूट जाता है और परब्रह्म को प्राप्त होता है। भक्तिपूर्वक राम का हृदय में ध्यान कर पुत्रादि के निमित्त यदि कोई वंध्या स्त्री भी इसका पाठ करे, तो साल भर में उसे सुपुत्र प्राप्त हो जाय। ब्रह्मघ्न, गुरुतल्पग, स्तेयी, सुरापी, मातृ-भ्रातृ-विहिंसक तथा सदाभोग के लिए आतुर पुरुष भी यदि रघुपति का ध्यान करते हुए भक्ति-पूर्वक इस स्तोत्र का नित्य जप करे, तो मुक्ति पा जावे,साधारण आचारयुक्त पुरुष की तो बात ही क्या है।

अहल्या उद्धार की कथा का तीसरा, किन्तु सर्वमान्य रूप हमें राम-चरित-मानस (बालकांड, दोहा २४२-२४३) में मिलता है। हिंदी-संसार इससे भली प्रकार परिचित है, किन्तु तो भी तुलना के लिए हम उसे यहाँ ज्यों का त्यों उद्धृत किए देते हैं—

धनुषयज्ञ मुनि रघुकुल नाथा। हरषि चले मुनिवर के साथा ॥
आश्रम एक दीख मग माहीं। खग मृग जीव जन्तु तहँ नाहीं ॥
पूछा मुनिहिं शिला प्रभु देखी। सकल कथा मुनि कही विसेखी ॥
गौतम नारी श्रापबस, उपल-देह धर धीर।
चरन-कमल-रज चाहति, कृपा करहु रघुबीर ॥२४२॥

छंद—परसत, पद पावन सोक—नसावन प्रगट भई तपपुंज सही,
देखत रघुनायक जन सुख-दायक सनमुख होइ कर जोरि रही।
अति प्रेम—अधीरा पुलक सरीरा मुख नहिं आवै वचन कही,
अतिसय बड़ भागी चरनन्हि लागी जुगल नयन जलधार बही॥
धीरजु मन कीन्हा प्रभु कहँ चीन्हा रघुपति कृपा-भगति पाई,
अति निर्मल बानी अस्तुति ठानी ज्ञानगम्य जय रघुराई।
मैं नारि अपावन प्रभु जगपावन रावन-रिपु जन-सुखदाई,
राजीव—विलोचन भव-भय-मोचन पाहि-पाहि सरनहिं आई॥
मुनि श्राप जो दीन्हा अति भल कीन्हा परम अनुग्रह मैं माना.
देखेउँ भरि लोचन हरि भव-मोचन इहै लाभ शंकर जाना।
बिनती प्रभु मोरी मैं मति भोरी नाथ न माँगौं वर आना.
पद-कमल-परागा-रस-अनुरागा मम मन मधुप करै पाना॥
जेहि पद सुरसरिता परम पुनीता प्रगट भई शिव सीस धरी,
सोई पद—पंकज जेहि पूजत अज, मम शिर धरेउ कृपाल हरी।
एहि भाँति सिधारी गौतम-नारी वार-बार हरि-चरन परी,
जो अति मन भावा सो वरु पावा गइ पतिलोक अनंद भरी।
अस प्रभु दीनबंधु हरि, कारन रहित दयाल।
तुलसिदास सठ ताहि भजु, छाँड़ि कपट जंजाल॥२४३॥

अहल्या-उद्धार की कथा के सम्बन्ध में इन भिन्न-भिन्न वर्णनों को पढ़कर नीचे लिखी बातों का पता चलता है—

१. ब्राह्मण-ग्रन्थों के उल्लेखों से पता लगता है कि अहल्या की कथा का आधार ऐतिहासिक नहीं है, बल्कि कदाचित् धार्मिक-रूपक से इसका प्रारम्भ हुआ है। टीकाकारों ने इस रूपक की तरह-तरह से व्याख्याएँ की हैं। कुमारिलभट्ट ने तंत्र वार्तिक के शिष्टाचार प्रकरण में एक व्याख्या दी है जिसका भाव यह है। इन्द्र का अर्थ है—परमैश्वर्यवाला और यह शब्द सूर्य के लिए प्रयुक्त हुआ है। दिन (अह) में छिपने (ल्या) के कारण

रात्रि को अहल्या कहते हैं। क्योंकि सूर्य (इन्द्र) रात्रि (अहल्या) को जीर्ण करता है इसलिए इन्द्र को अहल्या का जार कहा है। पर-स्त्री-व्यभिचार के कारण जार नहीं कहा है। एक बात और ध्यान देने योग्य है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में अहल्या की कथा का पूर्वार्द्ध तो मिलता है, किंतु अहल्या—उद्धार का बिलकुल भी उल्लेख नहीं है। अहल्या की कथा में यह अंश बाद को मिलाया गया है और इसका उद्देश्य रामचन्द्र का विष्णु-अवतार होना—सिद्ध करना मालूम होता है।

२. वाल्मीकि ने इन्द्र के दुराचार की कथा को विस्तार पूर्वक दिया है। अहल्या के शाप के संबंध में विशेषता यह है कि उसके शिला होने का बिलकुल भी उल्लेख नहीं है—वह केवल अदृश्य हो गई। दूसरी विशेषता यह है कि राम की पद-रज से अहल्या का उद्धार हुआ—इस बात का उल्लेख भी नहीं मिलता। राम के आश्रम में आने से ही अहल्या पवित्र हो गई है। उल्टे राम और लक्ष्मण ने अहल्या के पैर छुए हैं। टीकाकारों ने यहाँ पर बहुत खींचतान की है, किन्तु 'बदले में अहल्या ने भी राम के पैर छुए' यह अर्थ भी वास्तव में निकलता नहीं है। मालूम होता है कि अहल्या-उद्धार की कथा का यह रूप उस समय का है, जब स्वयं राम पवित्र समझे जाते थे और उनके नाम अथवा पदरज की पवित्रता तक उपासकों की कल्पना नहीं पहुँच सकी थी।

३. अध्यात्म-रामायण में भी अहल्या शिला नहीं हुई है, बल्कि शिला पर बैठकर तप करने लगी है और जब रामचन्द्रजी ने उस शिला को पैर से छुआ तो अहल्या पाप-रहित हो शाप मुक्त हो गई। अध्यात्म रामायण के वर्णन की विशेषता यह है कि इसमें अहल्या-उद्धार के अंश का विस्तृत वर्णन है और अहल्या के मुख से राम-रूपधारी नारायण की प्रशंसा एक लम्बे स्तोत्र द्वारा कराई गई है। वास्तव में अध्यात्म-रामायण का वर्णन अहल्या की कथा के बीच के रूप का द्योतक है। इन्द्र के दुराचार तथा राम-द्वारा उद्धार, दोनों का वर्णन है, यद्यपि दूसरा अंश अधिक महत्व-

पूर्ण है। शिला का भी उल्लेख आया है लेकिन अधिक स्वाभाविक ढंग से है।

४. अहल्या के शिला हो जाने का भाव भी बहुत पुराना है। कालिदास ने रघुवंश[1] के ग्यारहवें सर्ग में, दो श्लोकों (३३-३४) में अहल्या की कथा दी है। यहाँ 'शिलामयी गौतम-बधू, का 'राम पद-रज' के अनुग्रह से पुनः शरीर धारण करने का स्पष्ट उल्लेख है। पद्म-पुराण (१६,७-१३) में अहल्या-उद्धार की कथा ताड़का-वध से पहले दी गई है। गौतम ने शाप दिया है कि 'शिला भव' और अंत में वायु ने राम-पद-रज शिला पर डाली है। कथा सरित्सागर (३, अ० १७) में भी अहल्या की कथा आई है। इसके अनुसार गौतम ने निम्नलिखित शाप दिया था :—हे पापिन, चिरकाल तक राम के दर्शन पर्यंत शिलाभाव को प्राप्त हो।

५. गोस्वामी तुलसीदास ने अहल्या की कथा को एक आदर्श राम-भक्त की दृष्टि से चित्रित किया है। सत्य-हृदय गुसाईं जी को अहल्या के दुराचार की कथा वर्णन करना रुचिकर नहीं प्रतीत हुआ, अतः उन्होंने उसका स्पष्ट रूप से उल्लेख भी नहीं किया है—'पूछा मुनिहि सिला प्रभु देखी; सकल कथा मुनि कही बिसेखी।' उनकी कथा तो अहल्या-उद्धार से आरंभ होती है। किंतु अहल्या का शाप-वश 'उपल देह' धारण करना तथा 'राम-चरन रज' की कृपा से प्रगट होने का उल्लेख गुसाईं जी ने स्पष्ट शब्दों में किया है। मानस की अहल्या-उद्धार की कथा में अहल्या द्वारा स्तुति मुख्य अंश है। इस अंश पर अध्यात्म-रामायण की स्तुति का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। गुसाईं जी ने अहल्या की कथा को इस ढंग से लिखा है कि पाठक का ध्यान अहल्या के दुराचार की ओर बिलकुल भी

---

१. बाबू शिवनंदनसहाय ने 'रघुवंश' और 'पद्मपुराण' के श्लोकों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है।

नहीं जाता, बल्कि पतित-पावन रामचन्द्रजी की अनन्य भक्ति में तल्लीन हो जाता है।

जो हो, इतना तो स्पष्ट है कि अहल्या का शाप-वश शिला हो जाना और राम-पद-रज से मुक्त होने का भाव वैसा अटल सत्य नहीं है—जैसा हम लोगों का मस्तिष्क समझने लगा है। वाल्मीकि-रामायण में ही—जहाँ इस कथा का प्रथम विस्तृत वर्णन मिलता है—इन दोनों का उल्लेख नहीं है। अहल्या-उद्धार की यह प्रसिद्ध पौराणिक कथा ब्राह्मण-ग्रंथों के 'अहल्याजार' इंद्र से प्रारम्भ होकर अनेक रूप धारण करने के उपरांत 'अहल्या तारक' राम की भक्ति में लय हो जाती है।

———

"मारेसि मोहिं कुठाउँ"

चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी'

जब कैकेयी ने दशरथ से यह वर माँगा कि राम को वनवास दे दो तब दशरथ तिलमिला उठे, कहने लगे कि चाहे मेरा सिर माँग ले, अभी दे दूँगा, किन्तु मुझे राम के विरह से मत मार। गोसाइँ तुलसीदासजी के भाव भरे शब्दों में राजा ने सिर धुनकर लम्बी साँस भर कर कहा कि 'मारेसि मोहिं कुठाउँ', मुझे बुरी जगह पर घात किया। ठीक यही शिकायत हमारी आर्यसमाज से है। आर्यसमाज ने भी हमें कुठावँ मारा है, कुश्ती में बुरे पेंच से चित पटका है।

हमारे यहाँ पूँजी शब्दों की है, जिससे हमें काम पड़ा, चाहे और बातों में हम ठग गए पर हमारी शब्दों की गाँठ नहीं कतरी गई। राज के और धन के गठकटे यहाँ कई आए पर शब्दों की चोरी (महाभारत के ऋषियों की कमलनाल की ताँत की चोरी की तरह) किसी ने न की। यही नहीं, जो आया उससे हमने कुछ ले लिया।

पहले हमें काम असुरों से पड़ा, असीरियावालों से। उनके यहाँ असुर शब्द बड़ी शान का था। असुर माने प्राणवाला, जबरदस्त। हमारे इंद्र की भी यही उपाधि हुई, पीछे चाहे शब्द का अर्थ बुरा हो गया। फिर काम पड़ा पणियों से—फिनीशियन व्यापारियों से। उनसे हमने पण धातु

पाया जिसका अर्थ लेन-देन करना, व्यापार करना है। एक पणि उनमें से ऋषि भी हो गया जो विश्वामित्र के दादा गाधि या गाधि की कुर्सी के बराबर जा बैठा। कहते हैं कि उसी का पोता पाणिनि था जिसका दुनियाँ को चकरानेवाला सर्वांङ्ग सुंदर व्याकरण हमारे यहाँ बन गया। पारस के पर्शवों या पारसियों से काम पड़ा तो वे अपने सूबेदारों की उपाधि क्षत्रप या क्षत्रपावन् या महाक्षत्रप हमारे यहाँ रख गए और गुस्तास्प, विस्तास्प वजन पर कृश्वाश्व, श्यावाश्व, बृहदश्व आदि ऋषियों और राजाओं के नाम दे गए। यूनानी यवनों से काम पड़ा तो वे यवन की स्त्री यवनी तो नहीं, पर यवन की लिपि यवनानी शब्द हमारे व्याकरण को भेंट कर गए। साथ ही बारह राशियाँ मेष, वृष, मिथुन आदि भी यहाँ पहुँचा गए। इन राशियों के ये नाम तो उनकी असली ग्रीक शकलों के नामों के संस्कृत रूप हैं, पुराने ग्रंथकार तो शुद्ध यूनानी नाम आर, तार, जितुम आदि काम में लेते थे। ज्योतिष में यवनसिद्धांत को आदर से स्थान मिला। वराहमिहिर की स्त्री यवनी रही हो या न रही हो, उसने आदर से कहा है कि म्लेच्छ यवन भी ज्योतिःशास्त्र जानने से ऋषियों की तरह पूजे जाते हैं।

अब चाहे वेल्यूपेवल सिस्टम भी वेद में निकाला जाय, पर पुराने हिंदू कृतघ्न और गुरुमार नहीं थे। सेल्यूकस निकेटर की कन्या चंद्रगुप्त मौर्य के जनाने में आई, यवन राजदूतों ने विष्णु के मंदिरों में गरुड़ध्वज बनाए और यवन राजाओं की उपाधि सोटर त्रातार का रूप लेकर हमारे राजाओं के यहाँ आ लगी। गंधार से न केवल दुर्योधन की माँ गांधारी आई, बाल-वाली भेड़ों का नाम भी आया। वल्ख से केसर और हींग का नाम वाल्हीक आया। घोड़ों के नाम परसीक, कांबोज, वनायुज वाल्हीक आए। शकों के हमले हुए तो शाकपार्थिव वैयाकरणों के हाथ लगा और शक संवत् या शाका सर्वसाधारण के। हूण वंक्षु (Oxus) नदी के किनारे पर से वहाँ चढ़ आए तो कवियों को नारंगी की उपमा मिली कि ताजा मुड़े हुए

हूण की ठुड्ढी की सी नारंगी। कलचुरि राजाओं को हूणों की कन्या मिली। पंजाब में वाहीक नामक जंगली जाति आ जमी तो बेवकूफ, बौड़म के अर्थ में (गौर्वाहीकः) महाविरा चल गया। हाँ, रोमवालों से कोरा व्यापार ही रहा पर रोमक सिद्धांत ज्योतिष के कोश में आ गया। पारसी राज्य न रहा पर सोने के सिक्के निष्क और द्रम्भ (दिरहम) और दीनार (डिनारियस) हमारे भंडार में आ गए। अरबों ने हमारे 'हिंदसे' लिए तो ताजिक, मुथहा, इत्यशाल आदि दे भी गए। कश्मीरी कवियों को प्रेम के अर्थ में हेवाक दें गए। मुसलमान आए तो सुलतान का सुरत्राण, अमीर का हम्मीर, मुगल का मुंगल, मसजिद का मसीति—कई शब्द आ गए।

लोग कहते हैं कि हिन्दुस्तान अब एक हो रहा है। हम कहते हैं कि पहले एक था अब बिखर रहा है। काशी की नागरीप्रचारिणी सभा वैज्ञानिक परिभाषा का कोष बनाती है। उसी को नाक के नीचे बाबू लक्ष्मीचन्द वैज्ञानिक पुस्तकों में नई परिभाषा काम में लाते हैं। पिछवाड़े में प्रयाग की विज्ञानपरिषद् और ही शब्द गढ़ती है। मुसलमान आए तो कौन सी बाबू श्यामसुंदर की कमिटी बैठी थी कि सुलतान को सुरत्राण कहो और मुगल को मुंगल? तो भी कश्मीरी कवि या गुजराती कवि या राजपूताने के पंडित सब सुरत्राण कहने लग गए। एकता तब थी कि अब?

बौद्ध हमारे यहीं से निकले थे। उस समय के वे आर्यसमाजी ही थे। उन्होंने भी हमारे भंडार को भरा। हम तो 'देवानां प्रिय' मूर्ख को कहा करते थे। उन्होंने पुण्यश्लोक धर्माशोक के साथ यह उपाधि लगाकर इसे पवित्र कर दिया। हम निर्वाण के माने दिए का बिना हवा के बुझना ही जानते थे, उन्होंने मोक्ष का अर्थ कर दिया। अवदान का अर्थ परम सात्त्विक दान भी उन्हीं ने किया।

बकौल शेक्सपीयर के जो मेरा धन छीनता है वह कूड़ा चुराता है, पर जो मेरा नाम चुराता है वह सितम ढाता है। आर्यसमाज ने वह मर्मस्थल पर मार की है कि कुछ कहा नहीं जाता, हमारी ऐसी चोटी

पकड़ी है कि सिर नीचा कर दिया। औरो ने तो गाँठ का कुछ न लिया, पर इन्होंने अच्छे-अच्छे शब्द छीन लिए। इसीसे कहते हैं कि 'मारेसि मोहिं कुठाउँ'। अच्छे-अच्छे पद तो यों सफाई से लिए हैं कि इस पुरानी जमी हुई दुकान का दिवाला निकल गया!! लेने के देने पड़ गए!!!

हम अपने आपको 'आर्य' नहीं कहते, 'हिंदू' कहते हैं। जैसे परशुराम के भय से क्षत्रियकुमार माता के लहँगों में छिपाए जाते थे वैसे ही हमें विदेशी शब्द हिंदू की शरण लेनी पड़ती है। और आर्यसमाज पुकार-पुकार कर जले पर निमक छिड़कता है कि हैं! क्या करते हो? हिंदू माने काला, चोर, काफिर!! अरे भाई! कहीं बसने भी दोगे? हमारी मंडलियाँ भले 'सभा' कहलावें 'समास' नहीं कहला सकतीं। न आर्य रहे न समाज रहा तो क्या अनार्य कहें और समज कहें (समज पशुओं का टोला होता है)? हमारी सभाओं के पति या उपपति (गुस्ताखी माफ उपसभापति से मुराद है) हो जावें किंतु प्रधान या उपप्रधान नहीं कहा सकते। हमारा धर्म वैदिक धर्म नहीं कहलावेगा, उसका नाम रह गया है—सनातन धर्म। हम हवन नहीं कर सकते, होम करते हैं। हमारे संस्कारों की विधि संस्कारविधि नहीं रही, वह पद्धति (पैर पीटना) रह गई। उनके समाज मंदिर होते हैं, हमारे सभा-भवन होते हैं। और तो क्या 'नमस्ते' का वैदिक फिकरा हाथ से गया—चाहे जय रामजी कह लो, चाहे जय श्रीकृष्ण; नमस्ते मत कह बैठना।

ओंकार बड़ा मांगलिक शब्द है। कहते हैं कि यह पहले-पहल ब्रह्मा का कंठ फाड़कर निकला था। इस आदि नाद का बड़ा महत्व था। इसी से प्रत्येक मंत्र के आरम्भ में इसे लगाया जाता था। पर उसे भी ले लिया। प्रत्येक मंगल-कार्य के प्रारम्भ में हिंदू श्रीगणेशाय नमः कहते हैं। अभी इस बात का श्रीगणेश हुआ है—इस मुहावरे का अर्थ है कि अभी आरम्भ हुआ है। एक वैश्य यजमान के यहाँ मृत्यु हो जाने पर पंडितजी गरुड़पुराण की कथा कहने गए। आरम्भ किया श्रीगणेशाय नमः। सेठ जी चिल्ला उठे—वाह महाराज! हमारे यहाँ

तो यह बीत रहा है और आप कहते हैं कि श्रीगणेशाय नमः। माफ करो। तब से चाल चल गई है कि गरुड़पुराणकी कथा में श्रीगणेशाय नमः नहीं कहते, श्रीकृष्णाय नमः कहते हैं। उसी तरह अब सनातनी हिंदू न ओम् बोल सकते हैं, न लिख सकते हैं, संध्या या यज्ञ करने पर जोर नहीं देते। श्रीमद्भागवत की कथा या ब्राह्मण भोजन पर संतोष करते हैं।

और तो और, आर्यसमाज ने तो हमें झूठ बोलने पर लाचार किया। यों हम लिल्लाही झूठ न बोलते, पर क्या करें। इश्कबाजी और लड़ाई में सब कुछ जायज है। हिरण्यगर्भ के माने सोने की कौंधनी पहने हुए कृष्णचन्द्र करना पड़ता है, 'चत्वारि शृङ्गा' वाले मंत्र का अर्थ मुरली करना पड़ता है, 'अष्टवर्षोऽष्टवर्षो वा' में अष्ट च अष्ट च एकशेष करना पड़ता है। शतपथ ब्राह्मण के महावीर नामक कपालों की मूर्तियाँ बनानी पड़ती हैं। नाम तो रह गया हिंदू। तुम चिढ़ाते हो कि इसके माने होते हैं काला, चोर या काफ़िर। अब क्या करें? कभी तो इसकी व्युत्पत्ति करते हैं कि हि + इंदु। कभी मेरुतंत्र का सहारा लेते हैं कि 'हीनं च दूषयत्येव हिंदूरित्युच्यते प्रिय।' यह उमा-महेश्वर संवाद है। कभी सुभाषित के "हिंदवो विंध्यमाविशन्" को पुराना करते हैं और यह उड़ा जाते हैं कि उसी के पहले 'यवनैरवनिः क्रांता' भी कहा हैं, कभी महाराज कश्मीर के पुस्तकालय में कालिदासरचित विक्रम महाकाव्य में 'हिंदूपतिः पाल्यताम्' पद प्रथम श्लोक में मानना पड़ता है। इसके लिए महाराज कश्मीर के पुस्तकालय की कल्पना कि जिसका सूचीपत्र डाक्टर स्टाइन ने बनाया हो, वहाँ पर कालिदास के कल्पित काव्य की कल्पना, कालिदास के विक्रम संवत् चलानेवाले विक्रम के यहाँ होने की कल्पना तथा यवनों से अस्पृष्ट (यवन माने मुसलमान! भला, यूनानी नहीं) समय में हिंदूपद के प्रयोग की कल्पना! कितना दुःख तुम्हारे कारण उठाना पड़ता है!

बाबा दयानंद ने चरक के एक प्रसिद्ध श्लोक का हवाला दिया कि सोलह वर्ष से कम अवस्था की स्त्री में पचीस वर्ष से कम पुरुष का गर्भ

रहे तो सच तो वह गर्भ में ही मर जाय या चिरजीवी न हो या दुर्बलेंद्रिय होकर जीवे। हम समझ गए कि यह हमारे बालिकाविवाह की जड़ कटी—नहीं, बालिकारम्भ पर कुठार चला। अब क्या करें? चरक कोई धर्मग्रन्थ तो है नहीं कि जोड़ की दूसरी स्मृति में से दूसरे वाक्य तुर्की-बतुर्की जवाब में दे दिया जाय। धर्मग्रंथ नहीं है, आयुर्वेद का ग्रन्थ है। इसलिए उसके चिरकाल न जीने या दुर्बलेंद्रिय होकर जीने की बात का मान भी कुछ अधिक हुआ। यों चाहे मान भी लेते—और व्यवहार में मानते ही हैं—पर बाबा दयानन्द ने कहा तो उसकी तरदीद होनी चाहिए। एक मुरादाबादी पंडितजी लिखते हैं कि हमारे पड़दादा के पुस्तकालय में जो चरक की पोथी है उसमें पाठ है—

ऊनद्वादशवर्षायामप्राप्तः पंचविंशतिम्।

लीजिए चरक तो बारह वर्ष पर ही 'एज आफ कंसेंट बिल' देता है बाबाजी क्यों सोलह कहते हैं? चरक की छपी पोथियों में कहीं यह पाठ न मूल में है, न पाठांतरों में। न हुआ करे—हमारे पड़दादा की पोथी में तो है!

इसीलिए आर्यसमाज से कहते हैं कि "मारेसि मोहिं कुठाउँ"।

— —

समाज और धर्म

संपूर्णानन्द

यदि सभी लोग अपने-अपने धर्म का पालन करें तो सभी सुखी और समृद्ध रह सकते हैं परन्तु आज ऐसा नहीं हो रहा है। धर्म का स्थान गौणातिगौण हो गया है, इसलिए सुख और समृद्धि भी गूलर का फूल हो गई है। यदि एक सुखी और सम्पन्न है तो पचास दुखी और दरिद्र हैं। साधनों की कमी नहीं है, परन्तु धर्म्म बुद्धि के विकसित न होने से उनका उपयोग नहीं हो रहा है। कुछ स्वार्थी और युयुत्सु-प्रकृति के प्राणी तो स्यात् समाज में सभी कालों में रहे हैं और रहेंगे। परन्तु आजकल ऐसी व्यवस्था है कि ऐसे लोगों को अपनी प्रवृत्ति के अनुसार काम करने का खुला अवसर मिल जाता है और उनकी सफलता दूसरों को उनका अनुगामी बना देती है। दूसरी ओर जो लोग सचमुच सदाचारी हैं उनके मार्ग में पदे-पदे अड़चनें पड़ती हैं।

मनुष्य का सबसे बड़ा पुरुषार्थ मोक्ष है परन्तु समाज किसी में हठात् आत्मसाक्षात्कार की इच्छा उत्पन्न नहीं कर सकता। न कोई योगी बनने के लिए विवश किया जा सकता है न ब्रह्मविवित्सुओं के लिए सार्वजनिक पाठशालाएँ खोली जा सकती हैं। बलात् कोई धर्म्मात्मा भी नहीं बनाया जा सकता। परन्तु समाज का संव्यूहन ऐसा हो सकता है कि सबके सामने

आत्मज्ञान और अभेद दर्शन का आदर्श रहे, वैयक्तिक और सामूहिक जीवन का मूल मन्त्र प्रतिस्पर्धा की जगह सहयोग हो और सबको अपनी सहज योग्यताओं के विकास का अवसर मिले। यदि ऐसी व्यवस्था हो तो धर्म को स्वतः प्रोत्साहन और मुमुक्षा को अनुकूल वातावरण मिल जायगा। इसके साथ ही यह बात भी आप ही हो जायगी कि जिन लोगों की धर्म-बुद्धि अभी उद्बुद्ध नहीं है वह समाज की बहुत क्षति न कर सकें।

मनुष्य ने अपने को इतने टुकड़ों में बाँट लिया है कि एकता को कहीं आश्रय नहीं मिलता। जितने टुकड़े हैं उतने ही पृथक् हित हैं और इन हितों की सिद्धि पार्थक्य को उतना ही बढ़ाती है।

उदाहरण के लिए उस टुकड़े को लीजिए जिसको राष्ट्र कहते हैं। हमने अपने को राष्ट्रों में बाँट रखा है और प्रत्येक राष्ट्र अपने को स्वतन्त्र, प्रभुराज के रूप में संव्यूढ़ देखना चाहता है। दो मनुष्य एक ही विचार रखते हैं, एक ही संस्कृति के उपासक हैं, एक को दूसरे से कोई द्वेष नहीं है, फिर भी विभिन्न राष्ट्रों के सदस्य होने के कारण उनके हित टकराते हैं, एक को दूसरे से लड़ना पड़ता है, एक को दूसरे के बाल-बच्चों को भूखों मारना पड़ता है। व्यक्ति को दास बनाना बुरा समझा जाता है, परन्तु समूचे राष्ट्र को दास बनाना, समूचे राष्ट्र के जीवन को अपनी इच्छा के अनुसार चलाना, समूचे राष्ट्र का शोषण करना बुरा नहीं है। बलात् दूसरे के घर का प्रबंध नहीं किया जा सकता परन्तु बलात् दूसरे राष्ट्र पर शासन किया जा सकता है। राष्ट्रों और राजों के परस्पर व्यवहार में सत्य, अहिंसा और सहिष्णुता का स्थान नहीं है। जो मनुष्य दूसरे व्यक्ति की एक पाई दबा लेना बुरा समझता है वह राजपुरुष के पद से दूसरे राष्ट्र का गला घोंट देना निन्द्य नहीं मानता। यह बात श्रेयस्कर नहीं है। कुटुम्ब में व्यक्ति होते हैं, समाज में राष्ट्र इसी प्रकार रहें। कुछ बातों में अपना अलग जीवन भी बिताएँ परन्तु सारे मानव-समाज की एकता सतत सामने रहनी चाहिए। युद्ध और कलह का युग समाप्त होना चाहिए। जो राष्ट्र दूसरे की ओर

कुदृष्टि से देखे वह राष्ट्र-समुदाय से बहिष्कृत और दण्डित होना चाहिए। न्याय और सत्य सामूहिक आचरण के आधार बनाए जा सकते हैं। मानव-संस्कृति एक और अविभाज्य है। योगी, कवि, कलाकार, विज्ञानी चाहे किसी देश के निवासी हों मनुष्य समाज मात्र की विभूति हैं। इसके साथ ही आर्थिक विभाजन भी समाप्त होना चाहिए। प्रकृति ने जो भोग्य-सामग्री प्रदान की है उसे भी मनुष्य मात्र के उपभोग का साधन मानना उचित है। जब तक मनुष्य अपने देश के बाहर अजनबी समझा जायगा जब तक वसुन्धरा बलवानों की सम्पत्ति समझी जायगी, जब तक किसी देश को यह अधिकार रहेगा कि वह सामर्थ्य रहते हुए भी दूसरे देशों की आवश्यकता की पूर्ति करे या न करे और करे तो अपनी मनमानी शर्तों पर, तब तक मनुष्य-समाज सुखी नहीं हो सकता।

जो नियम अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के लिए उपयुक्त है वही राष्ट्र के भीतर के लिए भी लागू होता है। यह समाजशास्त्र, राजनीति या अर्थशास्त्र की पुस्तक नहीं है, परन्तु दो चार बातों की ओर ध्यान आकर्षित किया जा सकता है।

राष्ट्र का भीतरी संव्यूहन ऐसा होना चाहिए जिसमें प्रत्येक मनुष्य को धर्म्माविरुद्ध अर्थ और काम की निर्बाध प्राप्ति हो सके। यह तभी हो सकता है जब समाज का संघटन धर्म्ममूलक हो। समय के साथ धर्म्म के ऊपरी रूप बदलते रहते हैं परन्तु उसके मूलतत्व अटल हैं। जो काम ऐक्य और सहयोगवर्द्धक है वह धर्म्म है, जो काम अपने संकुचित 'स्व' पर केन्द्रित रहता है वह अधर्म्म है। जिस समाज में कोई जन्मना ऊँचा, कोई जन्मना नीचा माना जायगा, जिस समाज में योग्य व्यक्ति को ऊपर उठने का, अपनी सहजात योग्यता को विकसित करने का अवसर न दिया जायगा और अयोग्य व्यक्ति कुल के आधार पर ऊँचे पद से हटाया न जायगा, जिस समाज़ में तप और विद्या का स्थान सर्वोपरि न होगा वह अधर्म की नींव पर खड़ा है। जिस समाज में थोड़े से व्यक्तियों को

समाज की धनजन-शक्ति को यथेच्छ लगाने का अधिकार होता है, जिस समाज में शासितों को अपने शासकों की आलोचना करने, और उनके काम से असन्तुष्ट होने पर उनको हटाने का अधिकार नहीं होता, जिस समाज में शासकों के ऊपर तपस्वी विद्वानों, ब्राह्मणों का अंकुश नहीं होता, जिस समाज में शिक्षा, विज्ञान, कला और उपासना पर शासकों का नियन्त्रण होता है, वह समाज अधर्म्म की नींव पर खड़ा है। जिस समाज में थोड़े से मनुष्य धनवान् और शेष निर्धन हैं, जिस समाज में भोज्य पदार्थों के उत्पादन के मूल साधनों, अर्थात् भूमि, खनिजों और यन्त्रों पर कुछ व्यक्तियों का स्वत्व है, जिस समाज में मनुष्य का शोषण वैध है, जिस समाज में प्रतिस्पर्धियों को नीचे गिराना ही उन्नति का साधन है, जिस समाज में बहुतों की जीविका थोड़े के हाथ में है, वह समाज अधर्म्म की नींव पर खड़ा है। यह कोई तर्क नहीं है कि प्राचीन काल में आज से कई सहस्र या कई सौ वर्ष पूर्व इनमें से कई बातें उचित समझी जाती थीं और बड़े-बड़े विद्वानों ने इनका समर्थन किया था। जैसा ऊपर कहा गया है, धर्म्म का सिद्धान्त अटल है परन्तु देश-काल-पात्र भेद से उसके विनियोग में भेद होता रहता है। पुराकाल के ब्राह्मणों ने अपने समय के लिए चाहे जो व्यवस्था की हो परन्तु हमको इस समय को देखना है। व्यास, मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर या महात्मा गान्धी का नाम तर्क का स्थान नहीं ले सकता। बस, धर्म्माधर्म्म की एक परख है, यह काम भेदभाव को कम करता है या बढ़ाता है? लोगों को एक दूसरे से मिलाता है या उनमें संघर्ष उत्पन्न करता है? जहाँ कुछ लोगों को केवल अधिकार और कुछ को केवल कर्तव्य बाँटे जायंगे, जहाँ शिक्षक, पण्डित, कवि, साधु और धर्मगुरु अधिकारियों और श्रीमानों के उपजीवी होंगे, जहाँ पुरोहित का लक्ष्य केवल यजमान से धन प्राप्त करना होगा, जहाँ सम्पन्नों के दरबारी व्यास पीठ से दुर्बलों और दलितों को शांति और संतोष का पाठ पढ़ाने में इतिकर्त्तव्यता समझेंगे, वहाँ कदापि समता, सद्भाव,

सहयोग, एकता नहीं रह सकती। वहाँ वैषम्य की आग प्रत्येक दुःखी हृदय में दहकती रहेगी। वह ज्वालामुखी एक दिन फूटेगा और क्रांति की लपट न केवल समाज की बुराई वरन् भलाई को भी भस्मसात् कर देगी। जो लोग इसको बचाना चाहते हैं उनका कर्त्तव्य है कि अन्याय, शोषण प्रपीड़न, अज्ञान, प्रवंचन का निरन्तर विरोध करें और मनुष्य-मनुष्य में, प्राणी-प्राणी में सद्भाव और शान्ति स्थापित करने का यत्न करें। ऐसे वातावरण में ही ऊँची कला, विद्या और विज्ञान पनप सकते हैं। ऐसी परिस्थिति में ही धर्म का अभ्यास निर्बाध और परिपूर्ण हो सकता है। ऐसे समाज में ही आत्मसाक्षात्कार के इच्छुकों को सुयोग मिलता है। समाज किसी को ब्रह्मज्ञानी नहीं बना सकता परन्तु मनुष्य को मनुष्य की भाँति रहने का अवसर दे सकता है। उसका यही धर्म है।

गेहूँ बनाम गुलाब

रामवृक्ष बेनीपुरी

गेहूँ हम खाते हैं, गुलाब सूँघते हैं। एक से शरीर की पुष्टि होती है, दूसरे से मानस तृप्त होता है।

गेहूँ बड़ा या गुलाब ? हम क्या चाहते हैं—पुष्ट शरीर या तृप्त मानस ? या पुष्ट शरीर पर तृप्त मानस ?

जब मानव पृथ्वी पर आया, भूख लेकर। क्षुधा, क्षुधा, पिपासा, पिपासा। क्या खाए, क्या पिए ? माँ के स्तनों को निचोड़ा, वृक्षों को झकझोरा, कीट-पतंग, पशु-पक्षी—कुछ न छुट पाए उससे !

गेहूँ—उसकी भूख का काफला आज गेहूँ पर टूट पड़ा है ? गेहूँ उपजाओ, गेहूँ उपजाओ, गेहूँ उपजाओ !

मैदान जोते जा रहे हैं, बाग उजाड़े जा रहे हैं—गेहूँ के लिए !

बेचारा गुलाब—भरी जवानी में सिसकियाँ ले रहा है। शरीर की आवश्यकता ने मानसिक वृत्तियों को कहीं कोने में डाल रक्खा है, दबा रक्खा है ?

× × × ×

किन्तु, चाहे कच्चा चरे या पकाकर खाए—गेहूँ तक पशु और मानव में क्या अन्तर ? मानव को मानव बनाया गुलाब ने ! मानव मानव तब

बना जब उसने शरीर की आवश्यकताओं पर मानसिक वृत्तियों को तरजीह दी !

यही नहीं, जब उसकी भूख खाँव-खाँव कर रही थी तब भी उसकी आँखें गुलाब पर टँगी थीं, टँगी थीं ।

उसका प्रथम संगीत निकला, जब उसकी कामिनियाँ गेहूँ को ऊखल और चक्की में पीस-कूट रही थीं । पशुओं को मारकर, खाकर ही वह तृप्त नहीं हुआ, उसकी खाल का बनाया ढोल और उनकी सींग की बनाई तुरही । मछली मारने के लिए जब वह अपनी नाव में पतवार का पंख लगाकर जल पर उड़ा जा रहा था, तब उसके छप-छप में उसने ताल पाया, तराने छोड़े ! बांस से उसने लाठी ही नहीं बनाई बंशी भी बनाई ।

रात का काला-धुप्प परदा दूर हुआ, तब यह उछ्वासित हुआ सिर्फ इसलिए नहीं कि अब पेट-पूजा की समिधा जुटाने में उसे सहूलियत मिलेगी, बल्कि वह आनन्द विभोर हुआ, उषा की लालिमा से, उगते सूरज की शनैः-शनैः प्रस्फुटित होनेवाली सुनहली किरणों से, पृथ्वी पर चमचम करते लच्च-लच्च ओस कणों से ! आसमान में जब बादल उमड़े तब उनमें अपनी कृषि का आरोप करके ही वह प्रसन्न नहीं हुआ ! उनके सौन्दर्य-बोध ने उसके मन-मोर को नाच उड़ने के लिए लाचार किया, इन्द्र धनुष ने उसके हृदय को भी इन्द्रधनुषी रंगों में रंग दिया ।

मानव शरीर में पेट का स्थान नीचे है, हृदय का ऊपर और मस्तिष्क का सबसे ऊपर । पशुओं की तरह उसका पेट और मानस समानान्तर रेखा में नहीं हैं । जिस दिन वह सीधे त न कर खड़ा हुआ, मानस ने उसके पेट पर विजय की घोषणा की ।

गेहूँ की आवश्यकता उसे है, किंतु उसकी चेष्टा रही है गेहूँ पर विजय प्राप्त करने की । उपवास, व्रत, तपस्या आदि उसी चेष्टा के भिन्न-भिन्न रूप रहे हैं ।

× × × ×

जब तक मानव के जीवन में गेहूँ और गुलाब का सम-तुलन रहा वह सुखी रहा, सानन्द रहा !

वह कमाता हुआ गाता था और गाता हुआ कमाता था। उसके श्रम के साथ संगीत बँधा हुआ था और संगीत के साथ श्रम।

उसका साँवला दिन में गायें चराता था, रात में रास रचाता था।

पृथ्वी पर चलता हुआ वह आकाश को नहीं भूला था और जब आकाश पर उसकी नजरें गड़ीं थीं, उसे याद था कि उसके पैर मिट्टी पर हैं।

किन्तु धीरे-धीरे यह सम-तुलन टूटा।

अब गेहूँ प्रतीक बन गया हड्डी तोड़नेवाले, उबानेवाले, थकानेवाले, नारकीय यंत्रणाएँ देनेवाले श्रम का—वह श्रम, जो पेट की क्षुधा भी अच्छी तरह शान्त न कर सके।

और गुलाब बन गया प्रतीक विलासिता का—भ्रष्टाचार का, गन्दगी और गलीज का। वह विलासिता—जो शरीर को नष्ट करती है और मानस को भी !

अब उसके साँवले ने हाथ में शंख और चक्र लिए। नतीजा—महाभारत और यदुवंशियों का सर्वनाश !

वह परम्परा चली आ रही है। आज चारों ओर महाभारत है, गृह-युद्ध है, सर्वनाश है, महानाश है !

गेहूँ सिर धुन रहा है खेतों में, गुलाब रो रहा है बगीचों में—दोनों अपने-अपने पालन-कर्ताओं के भाग्य पर, दुर्भाग्य पर !

× × × ×

चलो, पीछे मुड़ो। गेहूँ और गुलाब में हम एक बार फिर सम-तुलन स्थापित करें।

किन्तु मानव क्या पीछे मुड़ा है ? मुड़ सकता है ?

यह महायात्री चलता रहा है, चलता रहेगा !

और क्या नवीन सम-तुलन चिरस्थायी हो सकेगा ? क्या इतिहास फिर दुहराकर नहीं रहेगा ?

नहीं, मानव को पीछे मोड़ने की चेष्टा न करो।

अब गुलाब और गेहूँ में फिर सम-तुलन लाने की चेष्टा में सिर खपाने की आवश्यकता नहीं।

अब गुलाब गेहूँ पर विजय प्राप्त करे! गेहूँ पर गुलाब की विजय—चिर विजय! अब नए मानव की यह नई आकांक्षा हो!

क्या यह सम्भव है ?

बिल्कुल सोलह आने सम्भव है!

विज्ञान ने बता दिया है—यह गेहूँ क्या है। और उसने यह भी जता दिया है कि मानव में यह चिर-बुभुक्षा क्यों है।

गेहूँ का गेहुँत्व क्या है, हम जान गए हैं। यह गेहुँत्व उसमें आता कहाँ से है, हमसे यह भी छिपा नहीं है।

पृथ्वी और आकाश के कुछ तत्व एक विशेष प्रतिक्रिया से पौदों की बालियों में संगृहीत होकर गेहूँ बन जाते हैं। उन्हीं तत्वों की कमी हमारे शरीर में भूख नाम पाती है।

क्यों पृथ्वी की कुड़ाई, जुताई, गुड़ाई! हम पृथ्वी और आकाश से सीधे इन तत्वों को क्यों न ग्रहण करें ?

यह तो अनहोनी बात—युटोपिया, युटोपिया!

हाँ, यह अनहोनी बात, युटोपिया तब तक बनी रहेगी, जब तक मानव संहार-काण्ड के लिए ही आकाश-पाताल एक करता रहेगा। ज्यों ही उसने जीवन की समस्याओं पर ध्यान दिया, यह बात हस्तामलकवत् सिद्ध होकर रहेगी!

और, विज्ञान को इस ओर आना है; नहीं तो मानव का क्या, सारे ब्रह्माण्ड का संहार निश्चित है!

विज्ञान धीरे-धीरे इस ओर भी कदम बढ़ा रहा है!

कम से कम इतना तो अवश्य ही कर देगा कि गेहूँ इतना पैदा हो कि जीवन की परमावश्यक वस्तुएँ हवा, पानी की तरह इफरात हो जायँ। बीज, खाद, सिंचाई, जुताई के ऐसे तरीके और किस्म, आदि तो निकलते ही जा रहे हैं जो गेहूँ को समस्या को हल कर दें !

प्रचुरता—शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले. साधनों की प्रचुरता—की ओर आज का मानव प्रभावित हो रहा है !

प्रचुरता ?—एक प्रश्न चिह्न !

क्या प्रचुरता मानव को सुख और शान्ति दे सकती है ?

"हमारा सोने का हिन्दोस्तान"—यह गीत गाइए, किन्तु यह न भूलिए कि यहाँ एक सोने की नगरी थी, जिसमें राक्षसता निवास करती थी ! जिसे दूसरे की बहू-बेटियों को उड़ा ले जाने में तनिक भी झिझक नहीं थी।

राक्षसता—जो रक्त पीती थी, जो अभक्ष्य खाती थी, जिसके अकाय शरीर थे, दस सिर थे, जो छः महीने सोती थी !

गेहूँ बड़ा प्रबल है—वह बहुत दिनों तक हमें शरीर का गुलाम बना कर रखना चाहेगा ! पेट की क्षुधा शान्त कीजिए, तो वह वासनाओं की क्षुधा जाग्रत कर बहुत दिनों तक आपको तबाह करना चाहेगा।

तो, प्रचुरता में भी राक्षसता न आवे, इसके लिए क्या उपाय ?

अपनी मनोवृत्तियों को वश में करने के लिए आज का मनोविज्ञान दो उपाय बताता है—इन्द्रियों के संयमन की ओर वृत्तियों को ऊर्ध्वगामी करने की।

संयमन का उपदेश हमारे ऋषि-मुनि देते आए हैं। किन्तु, इसके बुरे नतीजे भी हमारे सामने हैं—बड़े-बड़े तपस्वियों की लम्बी-लम्बी तपस्याएँ एक रम्भा, एक मेनका, एक उर्वशी की मुस्कान पर स्खलित हो गईं !

आज भी देखिए। गाँधीजी के तीस वर्ष के उपदेशों और आदेशों पर चलने वाले हम तपस्वी किस तरह दिन-दिन नीचे गिरते जा रहे हैं।

इसलिए उपाय एकमात्र है—वृत्तियों को ऊर्ध्वगामी करना !

कामनाओं को स्थूल वासनाओं के क्षेत्र से ऊपर उठाकर सूक्ष्म भावनाओं की ओर प्रवृत्त कीजिए।

शरीर पर मानस की पूर्ण प्रभुता स्थापित हो—गेहूँ पर गुलाब की!

गेहूँ के बाद गुलाब—बीच में कोई दूसरा टिकाव नहीं, ठहराव नहीं!

× × × ×

गेहूँ की दुनियाँ खत्म होने जा रही है। वह दुनियाँ जो आर्थिक और राजनीतिक रूप में हम सब पर छाई है।

जो आर्थिक रूप से रक्त पीती रही, राजनीतिक रूप में रक्त बहाती रही!

अब दुनियाँ आनेवाली है जिसे हम गुलाब की दुनियाँ कहेंगे।

गुलाब की दुनियाँ—मानस का संसार—सांस्कृतिक जगत।

अहा, कैसा वह शुभ दिन होगा जब हम स्थूल शारीरिक आवश्यकताओं की जंजीर तोड़कर सूक्ष्म मानस-जगत् का नया लोक बनाएँगे?

जब गेहूँ से हमारा पिण्ड छूट जायगा और हम गुलाब की दुनिया में स्वच्छन्द विहार करेंगे!

गुलाब की दुनियाँ—रंगों की दुनियाँ, सुगन्धों की दुनियाँ!

भौंरे नाच रहे, गूँज रहे, फुलसूँघनी फुदक रही, चहक रही! नृत्य, गीत—आनन्द, उछाह!

कहीं गन्दगी नहीं, कहीं कुरूपता नहीं, आँगन में गुलाब, खेतों में गुलाब, गालों पर गुलाब खिल रहे, आँखों से गुलाब झाँक रहा!

जब सारा मानव जीवन रंगमय, सुगन्धमय, नृत्यमय, गीतमय बन जायगा! वह दिन कब आयगा!

वह आ रहा है—क्या आप देख नहीं रहे हैं! कैसी आँखें हैं आपकी। शायद उन पर गेहूँ का मोटा पर्दा पड़ा हुआ है। पर्दे को हटाइए और देखिए वह अलौकिक स्वर्गिक दृश्य इसी लोक में, अपनी इस मिट्टी की पृथ्वी पर ही!

शौके दीदार अगर है, तो नजर पैदा कर!

तिब्बत के पथ पर

राहुल सांकृत्यायन

आज (१४ मई) सवेरे थोड़ा-थोड़ा पानी बरस रहा था। बड़े सवेरे ही शौच आदि से निवृत्त हो मैंने तमङ्ग[1] तरुण से साथ चलने को कहा। उसे पके खेत को काटना था, इसलिए अवश्य कठिनाई थी। अन्त में मैंने उसे 'तात पानी' तक ही चलने के लिए कहा। उसके मन में भी न जाने क्या ख्याल आया, और वह चलने को तैयार हो गया। तब तक आठ बज गए थे। बूँदें भी कुछ हलकी हो गईं थीं। मैंने सबसे विदाई ली। गाँव से थोड़ा मक्खन तो न मिल सका, सत्तू लेकर हम चल पड़े। मालूम हुआ, हमारे रास्ते के बगल में ही चरवाहों का डेरा है। वहाँ मक्खन मिल जायगा। हमारा रास्ता पहाड़ के ऊपरी हिस्से पर से जा रहा था। यहाँ चारों ओर जंगल था। रास्ता कहीं-कहीं तो काफी चौड़ा था। इन रास्तों की मरम्मत आदि गाँव के लोग ही किया करते हैं।

छः घन्टे बाद हम चरवाहों के डेरे में पहुँच गये। मोटी जंजीर में बँधे कुत्तों ने कान के पर्दे फाड़ना शुरू किया। गृहिणी ने कुत्तों को दबाया तब फिर हम डेरे के भीतर घुसने पाये। डेरा क्या था, चटाइयों से छाया हुआ झोपड़ा था, जिसके भीतर खाने-पीने का सामान, कपड़े, बिछौने-बर्तन सभी ठीक से रक्खे हुये थे। जामो (=गाय और चमरे से उत्पन्न

१—एक जाति।

मादा) दुही जा रही थी। गृहपति लकड़ी के छोटे बर्तनों में दूध दुह-दुह कर लाता था। गृहपत्नी चारा तय्यार कर रही थी। इस देश में दुहने के वक्त गाय के सामने कोई खाने की चीज अवश्य रखनी होती है। डेरे के एक कोने में लकड़ी का बड़ा बर्तन छाछ से भरा हुआ था। डेरे वालों ने दूध पीने को कहा, किन्तु मैंने छाछ पसन्द की। इसके बाद उन्होंने खाने का आग्रह किया। आगे रास्ते में कुछ खाने को मिलेगा या नहीं इसका कुछ ठीक न था, इसलिए मैंने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। उसी समय उन्होंने चावल और तरकारी बनाई। हमारे खाना समाप्त करने तक उन्होंने मक्खन भी तैयार कर दिया। इस प्रकार ग्यारह बजे के करीब हमें छुट्टी मिली।

विशालकाय वृक्षों के बीच से रास्ता बड़ा सुहावना मालूम होता था। जङ्गली पक्षियों के मधुर शब्द कर्णगोचर हो रहे थे। मेरा साथी भोटिया भाषा अच्छी जानता था, उसकी दूसरी बोली मैं नहीं जानता था। दोनों बीच-बीच में भोटिया में बात करते, कभी स्ट्राबरी चुनते, कभी जोंकों से पैर बचाते, आगे बढ़ रहे थे। ऊपर कहीं-कहीं गाँव भी मिलते थे। यह सभी गाँव 'यल्मो' लोगों के थे। सारा गाँव सफेद ध्वजाओं का जंगल था। गाँव के पास रास्ते में 'मानी' का होना अनिवार्य था। मानियों के दोनों ओर रास्ता बहुत साफ बनाया गया था। बौद्ध यात्री सदा इन मानियों को दाहिने रख परिक्रमा करते चला करते हैं। यद्यपि इस प्रकार चारों ओर परिक्रमा नहीं होती, तो भी उसकी लम्बी परिक्रमा हो जाती है या भविष्य की यात्राओं से परिक्रमा पूरी हो जाती है, और आदमी महापुण्य का अधिकारी हो जाता है। एक गाँव में तो 'मानी' की दीवारों में पत्थरों पर खुदी हुई तस्वीरों पर रङ्ग भी ताजा ही लगा हुआ था। ऊपर कह चुका हूँ, 'यल्मो' लोगों में लामा-धर्म बहुत जाग्रत है और वह खाने-पीने से भी खुश हैं।

एक बजे के करीब हम डाँडे के किनारे पर आये। वहाँ से हमें दूसरी ओर जाना था। ऐन 'ला' (दर्रा) पर बड़ी मानी थी। दूसरी ओर पहुँचते

ही सीधी उतराई शुरू हुई। थोड़ा नीचे उतरने पर जङ्गल आँखों से ओझल हो गया! चारों ओर खेत ही खेत थे। थोड़ी ही देर में पके जौ और गेहूँ के खेत भी ऊपर छूट गए। जितना ही हम नीचे जाते थे, उतना ही तापमान का स्पष्ट प्रभाव खेतों पर दिखाई पड़ता था। मैं भी अब चलने में कमजोर न था, मेरे साथी को भी खेत काटने के लिए जल्द लौटना था। इसलिए हम खूब तेजी से उतर रहे थे।

'तमङ्गों' के कितने ही गाँवों को पारकर, निचले हिस्से में गोर्खों के गाँव मिले। यहाँ मकई एक-एक बालिश्त उगी थी। तीन-चार बजे हम नीचे नदी के पुल पर पहुँच गए। यहाँ भी एक सरकारी सिपाही रहता था, किन्तु उसे एक भोटिया लामा से क्या लेना था। पार होकर चढ़ाई शुरू हो गई। चढ़ाई में अब उतनी फुरती नहीं हो सकती थी। पाँच बजे के बाद थकावट भी मालूम होने लगी। हमने सवेरे ही सवेरे का निश्चय कर लिया। पास के गाँव में एक ब्राह्मण का घर मिला। गृहपति ने लामा को आसन दे दिया। साथी ने भात बनाया। रात बिताकर फिर हम ऊपर की ओर बढ़े। कितने ही गाँव और नालों को पार करते हुए दोपहर के करीब हम डाँडे पर पहुँचे। डाँडे को पार करते ही फिर वृक्षों से शून्य पहाड़ मिला। बारह बजे के बाद दूसरा डाँडा भी पार कर लिया, और अब हम काठमाण्डव से कुत्ती जानेवाले रास्ते पर थे। यह रास्ता ऊपर-ऊपर से जानेवाला है। नीचे से एक दूसरा भी रास्ता है, लेकिन वह बहुत गर्म है।

इस डाँडे को पार करने पर फिर हमें घना जंगल मिला। आजकल कुत्ती से नमक लाने का मौसम था, इसलिए झुंड के झुंड आदमी या तो मकई, चावल लेकर कुत्ती की ओर जा रहे थे या नमक पीठ पर लादे पीछे लौट रहे थे। दो बजे के करीब से उतराई शुरू हुई। अब भी हम 'शर्वों' की बस्ती में थे। 'यल्मो' लोग भी 'शर्वा' भोटियों की एक शाखा हैं। यह 'शर्वा' भोटिये दार्जिलिंग तक बसते चले गये हैं, 'शर्-वा' का

मतलब है पूर्ववाला। एक शर्वा से पूछने पर मालूम हुआ कि डुक्पा लामा अभी इधर से नहीं गुजरे हैं। विश्वास हो चला, शायद पीछे ही हैं। एक घण्टे की उतराई के बाद मालूम हुआ, डुक्पा लामा अगले गाँव में ठहरे हुए हैं। बड़ी प्रसन्नता हुई। तीन बजे हम जाकर उनके सामने खड़े हुए। मेरा उनका कोई झगड़ा तो था नहीं, सिर्फ जातीय स्वभाव के कारण उन्होंने मेरी उपेक्षा की थी। सभी लोग 'पंडिता' को देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उस रात को वहीं रहना हुआ। गाँव 'तमङ्गों' का था। ये लामा धर्म के माननेवाले कहे जाते हैं; लेकिन डुक्पा लामा ऐसे बड़े लामा के लिए भी उनको कोई श्रद्धा न थी। दाम देने पर भी मुश्किल से चीज मिलती थी। मेरे दिल में अब पूर्ण शान्ति थी। कुल्लू के रिञ्चन् साथ थे। डुक्पा लामा का शरीर बहुत भारी था, और चलने में बहुत कमजोर थे। इसलिए बीच-बीच में उनको ढोने के लिए दो आदमी साथ ले लिए थे। हमारी जमात में चार लामा और चार गृहस्थ थे। इस प्रकार सब मिलाकर हम आठ आदमी थे।

सवेरे फिर उतराई शुरू हुई। यहाँ नदी पर लोहे का झूलेवाला पुल था। आम रास्ता होने से यहाँ चट्टी पर दूकानें थीं। खाने की और कोई चीज तो न मिली, हाँ आग में भुनी मछलियाँ मिलीं। चढ़ाई फिर शुरू हुई। शाम तक चढ़ाई चढ़ते हम 'तमङ्गों' के बड़े गाँव में पहुँचे। वहाँ रात बिता गुरु को ढोने के लिए दो आदमी ले फिर सवेरे चल पड़े। एक डाँडा और पार करना पड़ा, फिर उतराई शुरू हुई। अन्त में हम काली नदी के किनारे पहुँच गए। अब हम काठमाण्डव से आनेवाले बड़े मार्ग पर आ गए। सड़क पर नमकवालों का मेला-सा जाता हुआ मालूम होता था। अब हम शर्वा लोगों के प्रदेश में थे। १८ मई (४ ज्येष्ठ) को हम काली नदी के ऊपरी भाग पर शर्वों के एक बड़े गाँव में ठहरे। साथियों ने बतलाया, कल हम नेपाल की सीमान्त चौकी पार करेंगे।

इस यात्रा में और लोग तो 'थुक्पा सत्तू' से काम चला लिया करते थे, किन्तु मेरे और डुक्पा लामा के लिए भात बना करता था। कभी कोई जङ्गली साग मिल जाया करता। कभी भुनी मछली का झोल मिल जाता था। आज तो इस गाँव में मुर्ग के अण्डों की भरमार थी। हमने चालीस-पचास अण्डे खरीदे और रात को ही सबने उन्हें चट कर दिया। नीचे तो मुझे इन चीजों से कुछ सरोकार न था, किंतु मैंने इस यात्रा में मांस का परहेज छोड़ दिया था। लड़कपन में तो इसका अभ्यास था ही, इसलिए घृणा की कोई बात नहीं। उसी रात को मैंने 'यल्मों' में लिखे कुछ कागजों को जला दिया। मैंने सोचा कि 'तातपानी' में कोई देखभाल न करने लगे।

हम काली नदी के ऊपरी भाग पर थे। धीरे-धीरे नदी की धार की ऊँचाई के साथ साथ हम भी ऊँचे पर चढ़ते जाते थे। नदी के दोनों ओर हरियाली ही हरियाली थी। सभी जगह जंगल तो नहीं था, किन्तु नङ्गा पर्वत कहीं न था। दो बजे के करीब हम 'तात-पानी' पहुँचे। गर्म पानी का चश्मा होने से इसे 'तात-पानी' कहते हैं। गाँव में नेपाली चुङ्गी-घर और डाकखाना है। मेरी तबीयत घबरा रही थी। डर रहा था, 'तुम मधेस का आदमी कहाँ से आया' तो नहीं कहेगा। हमारे लामा पीछे आ रहे थे। चुङ्गी वालों ने पूछा—लामा कहाँ से आते हो? हमने बतला दिया, तीर्थ से। चुङ्गी से छुट्टी मिल गई। रिञ्चन् ने कहा—अब हो गया न काम खतम?' उसी वक्त मुझे मालूम हुआ की फौजी चौकी आगे है। मैंने कहा—भाई! असली जगह तो आगे है।

थोड़ी देर में लामा भी आ गए। इस वक्त वर्षा हो रही थी। थोड़ी देर एक झोपड़ी में हमें बैठना पड़ा। फिर चल पड़े। आगे एक ऊँचे पर्वत-बाहु से हमारा रास्ता रुक सा गया। नदी की धार भी किधर से होकर आती है, नहीं मालूम पड़ता था। अब मेरी समझ में आया, क्यों तात-पानी की फौजी चौकी तात-पानी में न होकर आगे है। वास्तव में यह

सामने की महान् पार्वत्य दीवार सैनिक दृष्टि से बड़े महत्व की है। नीचे से जाने वाली बड़ी पल्टन को भी कुछ ही आदमी इस दीवार पर से रोक सकते हैं। थोड़ी देर में चढ़ाई चढ़ते-चढ़ते हम वहाँ पहुँच गए जहाँ रास्ते में पहरा वाला खड़ा था। पहरे वाले ने सबको रोककर बैठाया, फिर हवल्दार साहेब को बुला लाया। यही वह असल जगह थी, जिससे मैं इतना डरा करता था। मैं अपने को साक्षात् यमराज के पास खड़ा समझ रहा था। पूछने पर हमारे साथी ने कह दिया, हम लोग करोङ् के अवतारी लामा के चेले हैं! लामा भी थोड़ी देर में आ गए। हवल्दार ने जाकर कप्तान को खबर दी। उन्होंने सूबेदार को भेज दिया। आते ही एक-एक का नाम-ग्राम लिखना शुरू किया। उस समय किसी ने मेरे चेहरे को देखा होता, तो उसे मैं अवश्य बहुत दिनों का बीमार सा मालूम पड़ता। भरसक मैं अपने मुँह को उनके सामने नहीं रखना चाहता था। अन्त में मेरी बारी भी आई। रिञ्चेन् ने कहा—इनका नाम खुनू छवङ् है। सबको छुट्टी मिली। मैं भी परीक्षा में पास हो गया। पेट भरकर साँस ली। शाम करीब थी, इसलिए अगले ही गाँव में ठहरना था। सूबेदार ने गाँव के आदमी को कह दिया कि अवतारी लामा को अच्छी जगह पर टिकाओ और देखो तकलीफ न हो। हम लोग उसके साथ अगले गाँव में गए। रात में रहने के लिए एक अच्छा कोठा मिल गया।

आज (१६ मई=५ ज्येष्ठ) डुक्पा लामा ने देवता की पूजा प्रारंभ की। सत्तू की पिण्डियों पर लाल रङ्ग डाल कर मांस तैयार किया गया। घी के बीसों दीपक जलने लगे। थोड़े मन्त्रों के जप के बाद, डमरू गड़गड़ाने लगा। रात के दस बजे तक पूजा होती रही। पीछे प्रसाद बाँटने का समय आया। लाल सत्तू का प्रसाद मैंने भी पा लिया, मैंने इन्कार नहीं किया।

दूसरे दिन सवेरे चल पड़े, दो घन्टे में हम उस पुल पर पहुँच गए, जो नेपाल और तिब्बत की सीमा है। तिब्बत की सीमा में पैर रखते ही चित्त हर्ष से विह्वल हो उठा। सोचा, अब सबसे बड़ी लड़ाई जीत ली।

विशाल वाटिका

बालकृष्ण भट्ट

पहले इसके कि इस विशाल-वाटिका का हाल हम अपने पढ़नेवालों को कह सुनावें, उचित जान पड़ता है कि जिस बाग का सैलानी हम उन्हें बनाते हैं, उस बाग के बागवान के साथ उनका परिचय करा दें। यह बागवान यद्यपि बूढ़ा हो गया है और अब इनकी नस-नस ढीली पड़ गई है, पर बागवानी के हुनर में सब भाँति कुशल, अपने नये-नये साथियों से कहीं पर, किसी अंश में कम नहीं है। इस बाग के माली में यह एक अनोखा गुण पाया गया कि इस बाग की सर्वाङ्ग सुन्दरता पर मोहित हो जो यहाँ आया, उसे इसने इतना लुभाया कि वह अपनी निज की जन्म-भूमि को भूल यहीं का हो गया। इस तरह के पाहुने एक-दो नहीं, वरन् न जानिए कितने आए और आते-जाते हैं। कितने भूत के आकार से लम्बी-लम्बी दाढ़ी वाले यहाँ के फूल-फल पर प्रलोभित हो आए। जो कुछ हाथ लगा, नोचखसोट चम्पत हुए। एक इन लुटेरों में एक पाँव का लँगड़ा भी था। कोई-कोई आए तो इसी मनसूबे से कि जो कुछ पावें ले-लेवाय चल खड़े हों, पर इस बाग के माली के साथ उनकी ऐसी खिल्तमिल्त हो गई कि वे भी अपनी जन्मभूमि को भूल यहीं के हो गए। कोई अदला-बदला करने की इच्छा से आए, उनकी उजाड़ ऊसर धरती में जो कुछ उन्हें

मिला उसे यहीं छोड़ यहाँ के सुस्वादु, रसीले और सुगन्धित फल-फूल ले गए। कुछ दिन के उपरान्त उनको भी जंगल, उजाड़ और ऊसर धरती में रहना पसन्द न आया। इस चतुर माली के कोमल बर्ताव से इस मनोहर वाटिका पर मोहित हो उन्हें भी यहीं अपना घर बनाना पसन्द आया।

इन आगन्तुकों में अमित असीम महोर्मिमाली वरुणालय को नाँघते-डाँकते एक ऐसे आए जो अपनी काल-व्याल-सी भीषण विकराल दृष्टि के पात से उस बूढ़े बागवान को संत्रासित करके उसकी नस-नस को ढीली कर डाला। भोला-भाला बागवान इसी ख्याल में था कि यह भी हमारी इस मनोहर वाटिका पर रीझ यहाँ बस हमारा एक अंग बन जायगा। किन्तु यह नया पाहुना ऐसा चालाक निकला कि इसने उस समस्त वाटिका को तिल-तिल नाप-जोख बात की बात में अपना अधिकार उस पर जमा लिया और सरल चित्त बाग के माली को सब ओर से ऐसा जकड़ लिया कि अब यह इस नये पाहुने के पेंच में पड़ा हुआ सब भाँति बेबस हो गया और जो कुछ समझ रक्खा था, कि थोड़े दिन के जोर-जुल्म के बाद या तो यह चला जायगा या बस जायगा तो औरों की तरह यह भी हमारा ही होकर रहेगा सो सब बात उलटी पड़ी। यह पाहुना चालाकी में एक निकला। पहले वालों का सब दास्तान जान चुका था और बागवान की प्रलोभन-शक्ति को भी खूब टटोल चुका था। इसने अपनी जन्म-भूमि का सम्बन्ध न छोड़ा वरन् जहाँ जो कुछ हीर पदार्थ इसने पाया अपनी मातृ-भूमि में भेजना आरम्भ कर दिया और सर्वथा बागवान और बाग को निःसत्व कर डाला।

अस्तु, यद्यपि इस वाटिका की सर्वाङ्गसुन्दरता हर ली गई और पहले की सी पवित्रता-उज्वलता अब कलुषित और दगीली कर दी गई, फिर भी ऐसी-ऐसी क्यारियाँ इसमें मौजूद हैं कि जो जिस तरह के फल-फूल का रसिक है, वह यहाँ पहुँच, अपनी रुचि के अनुकूल उस तरह का पाय, मन-माना उसे छक कर, तृप्त और आघाया हुआ अपने को मालूम कर सकता

है। पहले हम अपने पढ़नेवालों को उस क्यारी के पास ले जाते हैं जो इस वाटिका के जार्णारण्य में सब ओर लंबी-लंबी घास और नुकीले सुये की भाँति चुभनेवाले काँटों से आवृत है, जहाँ पहुँच बाग के सैलानी को इस श्लोक के भावार्थ का भरपूर अनुभव होता है—

"पत्रपुष्पफललक्ष्मीः कदाप्यदृष्टं वृतं च खलु शूकैः।
उपसर्पेम भवन्तं वद बबुर कस्य लोभिनः॥"

इस क्यारी का गाटे का गाटा कंटकावृत्त होने से निकम्मा हो रहा है। जहाँ कहीं कोई पेड़ भी है तो विषफल उसमें फलते हैं, जिसके खानेवालों की रग-रग में उन फलों का असर, बैर-फूट व परस्पर की स्पर्द्धा, ईर्ष्या, द्रोह, मद, मात्सर्य के सिवाय और कुछ वहाँ हई नहीं। इन फूलों की तीखी महक और इसके फल का कड़ुआ रस दूर-दूर तक इस संपूर्ण वाटिका में ऐसा व्याप गया है कि समस्त गुण-रंजित होने पर भी यहाँ के पेड़ केवल फूट के कारण नहीं फबते। इस गाटे की धरती में एक अनोखी बात देखने में आई। ईसाइयों की धर्मपुस्तक में लिखा है कि खुदा ने आदम को ज्ञान के पेड़ का फल खाने को मना किया था, पर इसके विरुद्ध यहाँ अज्ञान का वृक्ष न जानिए कहाँ से उग आया है कि जिसने अज्ञान के फल को चखा उसमें विज्ञता-संपादन की यावत् चेष्टा और प्रयत्न सब व्यर्थ होता है।

प्रिय पाठक! इस बाग के सैलानी बनते हो तो सावधान रहो, दत्तचित्त हो हमारी बात पर ध्यान दो। ऐसी न जानिये कितनी क्यारियाँ इसमें हैं, उनकी ओर न झुक पड़ना। ऐसा न हो कि उन विषैले फलों की हवा तुम्हें लग जाय और तुम इन फलों के खाने वालों के साथी बन जाओ। लो आगे चलो, देखो ये कैसी मनोहर क्यारियाँ हैं। इसके अनगिनित पेड़, फूल और फलों से लदे लहलहाते हुए कैसी शोभा दे रहे हैं। इसके फूल-फल उन्हीं को सुलभ हैं जो परिश्रमी, दृढ़संकल्प और उद्यमी हैं, जिनमें इतना साहस है कि काम पड़ने पर असीम महासागर

और दुर्गम खाड़ियों को "गोष्पद" गऊ के खुर के समान पार कर डालते हैं। "किं दूरं व्यवसायिनाम्" ! इनका कला-कौशल, हाथ की कारीगरी, विज्ञान-चातुरी, शिल्प और वाणिज्य दूर-दूर के देश तक विख्यात रहा। इसी से बाग के माली का अनेक बार की लूट-पाट पर भी जरा मन न मट्का, सदा सुख-चैन की दशा में रहा आया। किन्तु थोड़े दिनों से अकाल-जलदोदय की भाँति एक ऐसी घटा उमड़ आई कि जो शिल्प और वाणिज्य दूर देश तक फैला था और जिसकी कदर की थाह न थी, खुर-खुरा, भद्दा और मोटा वरन् घिन के लायक हो गया।

हम इसके मालिक को धन्यवाद देते हैं जो इस क्यारी की भूमि में एक ऐसी खाद छोड़ चले कि विदेश से आई हुई वह घटा छिन्न-भिन्न हो गई। परदा जो आँख के सामने था, हट गया, एक बारगी सब के सब चौंक पड़े, जैसे कोई सोते से जाग उठे। सोचने लगे हाय हम सब लोग किस मोह जाल में पड़े थे। अब नये सिरे से इन क्यारियों के पेड़ों को सींचने और साजने में बड़ी सावधानी से दत्तचित्त हो रहे हैं। आशा होती है, अब यहाँ के फूल-फल पहले से भी अधिक सर्वग्राह्य होंगे। बागवान, जो दीन दशा में आ गया है और इसके लड़के-वाले जो काम न करने से भिखारी हो गए, बड़े-बड़े धनियों के समकक्ष हो जायँ तो क्या अचरज !

चलिए, अब आपको दूसरी क्यारी की सैर करावें, जहाँ की पुण्य-भूमि और पवित्र-स्थलियों में कल्पवृक्ष-से पादप उपज कर, जगद्विदित घ्राण तर्पण सुरभित कुसुम की कुसुमावलियों से संसार की कौन ऐसी दार्शनिक-मण्डली, विविध कला-कोविद विद्वानों का समूह, कवि समाज तथा वैज्ञानिक बच रहे हैं जहाँ इन फूलों की सुगन्धि नहीं पहुँचाई। पेशगोई और नबूअत का झंडा गाड़े हुए धर्म के प्रचारक ईश्वर का एकलौता पुत्र तथा जगत् का त्राणकर्ता कह जिन्होंने अपने को प्रसिद्ध किया था, वे भी इन क्यारी के वृक्षों का फल चख कृतकृत्य हो गए और यहाँ के अमोघ ज्ञान के दो-चार विन्दु पाय अघाय उठे। किन्तु हा ! कुचाली काल चाण्डाल का

सत्यानाश हो ! अकस्मात् ऐसा हिमपात हुआ कि इस बाग के सब पेड़ ठिठर-से गए और वे फल-फूल जो ऐहिक तथा आमुष्मिक ज्ञान, इहलोक और परलोक के उपकार-साधन का स्रोत या केन्द्र है, हिम के करका पात से दबकर सब छिप गया। विदेशी सभ्यता और विदेशी शिक्षा की तो यही चेष्टा थी कि इस पवित्र ज्ञान के खजाने को सर्वथा निर्मूल और नष्ट-भ्रष्टकर डालें, किन्तु जो सत्य है उसका त्रिकाल में नाश नहीं होता। Truth is always truth. दूसरे पूर्वज महर्षियों के तपोबल का प्रभाव और सत्य पर उनकी पूरी दृढ़ता कैसे व्यर्थ हो सकती है ? वे ही प्रद्योतित हृदयवाले, जो पश्चिमी सभ्यता और शिक्षा से बहक महात्मा-ऋषियों के अनुभव और ज्ञान को "नानसेन्स" कहने लगे थे, अब उसी को सत्य के पाने का द्वार मान रहे हैं।

इस क्यारी की शोभा के निरीक्षण में हम कहाँ तक आपको बिलमाए रहें ? इसके एक-एक पेड़ ऐसे हैं जिनका पूरा परिचय प्राप्त करने के लिए आपको महीनों और वर्षों चाहिए। चलिए, आगे बढ़िए, देखो सामने यह कवि-वाटिका की क्यारी लहलहाती हुई अनिर्वचनीय आनन्द-सन्दोह मन में उपजा रही है। इसका यह एक अद्भुत प्रभाव है कि यहाँ पहुँच तुम्हारे मन-मधुप को कहीं और ठौर बिचरने की इच्छा ही न होगी, न उसे इतना अवकाश मिलेगा।"

"नहि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं काङ्क्षति षट्पदाली।"

चलते-चलते आप थक गए होंगे। इससे थोड़ा ठहर इन्हीं द्रुम-कुञ्जों में विश्राम ले तब आगे चलिए। तथास्तु (सैलानी बैठ गया, थोड़ा सुस्ता कर) व्यर्थ ही लोग अमृत को सराहते हैं, स्वर्ग में देवगण निरन्तर अमृत का एक रस-पान करते-करते ऊब गये होंगे। इस वाटिका के शृङ्गार, वीर, करुणा आदि नौ रस का पान करते हुए धरती पर मनुष्यों को देख अपने को धिक्कारते होंगे। कालिदास, भवभूति सरीखे कवियों की सूक्ति का रसपान जिन्हें स्वप्न में भी काहे को मिलता होगा।

"सत्कविरसनासूर्पी निस्तुषतरशब्दशालिपाकेन ।
तृप्तो दयिताधरमपि नाद्रियते का सुधादासी ॥"

कवि ने अमृत से दयिताधर को उत्तम कहा है। सच है—अमृत निगोड़े को कहाँ इतना साहस जो कविता के दिव्य रस की तुलना कर सके। कवि ने पहले सुधादासी से दयिताधर को आदर दिया, फिर कविता के रस का स्मरण कर उसे भी भुला दिया। केवल कविता ही पर क्या, यह वाटिका तो रस की खान हो रही है। जिस विषय का जो रसिक है उसे अपने मन के माफिक विनोद यहाँ मिलना अतिसुलभ है। वाटिका की किस-किस बात की सराहना की जाय—यहाँ की धरती की उर्वरा-शक्ति, जल-वायु की मृदुता, समय-समय ऋतु का परिवर्तन, पृथ्वी के जिस भूभाग के जो हों, वे सब अपने-अपने घर का सुख यहाँ पा सकते हैं। इसी से जो यहाँ आए उन्होंने फिर अपनी जन्मभूमि में लौट जाने का मन न किया और जो आए अब अपना स्वत्व ही इस पर स्थापित करते गए। अपनी पहिले की जर्रारी-बर्रारी को तिलांजलि दे उन्हीं के समकक्ष बन गए जिनका मांस और रुधिर अनादि काल से इस वाटिका की भूमि में संलग्न है। कदाचित् मेदिनी पृथ्वी का नाम इसी से पड़ गया कि पृथ्वी उन्हीं मेदा-चर्बी की बनी है, अस्तु इस वाटिका का वर्तमान दृश्य देख यह निश्चय हो गया कि—

"प्रायेण सामग्रयविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वजनस्य वृत्तिः" ।

विधाता समग्र गुण एक ही में रखने का बड़ा विरोधी है। जैसी यह सुललित वाटिका मन को रमाने वाली थी, भूमि समस्त गुण-संपन्न और फूल-फल भी सुगन्धिक और मिठास में अद्वितीय थे, वैसा ही इन फूलों में आत्मगौरव क्यों न आया? इनको अपने रूप का परिचय बिल्कुल न रहा, न जानिए कब से ये अपने को भूले हुए हैं। हमें खेद है कि अपने पास ही जापान की वाटिका का नवाभ्युत्थान देख इन्हें अपने पूर्व-रूप-संपादन का हौसिला क्यों नहीं होता है? अनाथनाथ! तू जो इन्हें सनाथ किया चाहे तो निमेष-मात्र में सब कुछ कर सकता है। सब तेरे अधीन हैं।

———

श्रीगणेशशंकर विद्यार्थी

बनारसीदास चतुर्वेदी

"चित्तौर से खंडवा जा रहा हूँ। इन्दौर स्टेशन बीच में पड़ेगा। आप मुझसे वहीं मिलिए। गाड़ी सवेरे पहुँचती है" सन् १९१५ में श्रद्धेय गणेशजी ने एक कार्ड इस आशय का मुझे भेजा था। मैं उन दिनों इन्दौर में ही अध्यापन-कार्य करता था। प्रातःकाल के समय स्टेशन के लिए चल पड़ा। पहले कभी उन्हें देखा नहीं था, इस लिए चिन्ता थी कि उन्हें पहचानूँगा कैसे। गाड़ी पाँच-सात मिनट से अधिक न ठहरती थी। इतने ही समय में उन्हें तलाश करके बात-चीत करनी थी। उनका नाम लेकर स्टेशन पर चिल्लाने में तो अशिष्टता होती है। गाड़ी आई, बीसयों यात्री नीचे उतरे। उनमें छरहरे बदन के और चश्मा लगाए हुए एक नवयुवक भी थे। समझ लिया हो न हो यही विद्यार्थी जी हैं! हिन्दी सम्पादकों में किसी के मोटे होने की सम्भावना तो थी ही नहीं, निकट जा कर पूछा "क्या आप ही प्रताप के सम्पादक हैं?"

और आप फिजी के पंडित तोतारामजी?"

"नहीं! पर मैं उन्हीं का आदमी हूँ।"

उन दिनों मैंने पंडित तोतारामजी के कृपापूर्ण सहयोग से प्रवासी-भारतियों का कार्य प्रारम्भ किया था।

श्रद्धेय गणेशजी के प्रथम दर्शन मुझे इस प्रकार हुए। उन पाँच मिनटों की बातचीत ने भी हृदय पर काफी प्रभाव डाला। इसके बाद तो बीसियों बार उद्धेय गणेश जी से मिलने के अवसर प्राप्त हुए। एक बार वे मेरे यहाँ फिरोजाबाद भी पधारे और प्रताप कार्यालय तो अपना घर ही बन गया तथा गणेशजी अपने बन्धु। यद्यपि मुझे श्रद्धेय गणेशजी के उतने निकट पहुँचने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ जितने निकट श्री माखनलाल जी, श्री कृष्णदत्त पालीवालजी, श्री श्रीराम शर्मा इत्यादि पहुँच सके, तथापि मेरा दृढ़ विश्वास है कि मुझ पर उनकी जितनी कृपा थी, वह किसी से कम नहीं थी। आश्चर्य की बात तो यह है कि उनके कितने ही बन्धु ऐसे हैं जो इस बात का दावा करते हैं कि उन्हीं पर उनका सबसे अधिक स्नेह था। गणेश जी एक संस्था थे, कार्यकर्ताओं के एक कुटुम्ब के पालक-पोषक थे। और उनके विशाल हृदय में हम सबके लिए स्थान था। इस कुटुम्ब में क्रान्तिकारियों से लगाकर मेरे जैसे साहित्यिक भी थे, पर वे सब पर प्रेम रखते थे, सबके बन्धु थे और सबसे ऊँचे थे। सबमें मिले हुए होने पर भी सबसे अलग थे।

उनका व्यक्तित्व निराला था। हिमालय की तराई में खड़े हुए व्यक्ति के हृदय में माउण्ट एवरेस्ट या गौरीशंकर की चोटी की ओर देखते हुए जिस प्रकार के भयमिश्रित सम्मान के भावों का उदय होता है, उसी प्रकार के भावों का उदय आज अमर शहीद विद्यार्थी जी के चरित्र की ओर दृष्टि डालने पर इन पंक्तियों के लेखक के हृदय में हो रहा है। उनके विषय में अनेक मित्रों तथा भक्तों ने अपने-अपने संस्मरण लिखे हैं। एक पत्रकार-बन्धु की हैसियत से मैं भी अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ। साथी पत्रकारों के साथ वे कैसा वर्ताव करते थे, उनका कितना ख्याल रखते थे और संकट के समय उनकी कितनी सहायता करते थे! श्रद्धेय विद्यार्थी जी के जीवन के इस पहलू पर इन पंक्तियों से शायद कुछ प्रकाश पड़े।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि श्रद्धेय गणेश जी ने कितने ही युवकों को लेखक बनाया था और लेखकों को पत्रकार। उन्होंने एक बार अपने एक सम्पादक मित्र से कहा था – "यह क्या बात है जी! कि तुम्हारे पत्र को काम करते हुए इतने दिन हो गए और तुमने अभी तक एक भी अच्छा लेखक नहीं बना पाया?" इस विषय में गणेश जी अपने सुयोग्य गुरु द्विवेदी जी के सुयोग्य शिष्य थे। प्रताप के वायुमंडल में बने और पनपे हुए कवियों, लेखकों तथा संपादकों की संख्या काफी बड़ी है।

हिन्दी-पत्रकारों का जीवन कितना संकटमय होता है, यह भुक्तभोगी ही जानते हैं। ऐसे संकट के समय वह किसी-न-किसी का सहारा ढूँढ़ता है पर हिन्दी-सम्पादकों में कितने ऐसे हैं जो सहानुभूतिपूर्ण उत्तर भी दे सकें, आर्थिक सहायता देना या दिलाना तो दूर की बात है। और दर-असल आर्थिक सहायता तो एक गौण चीज है। सहानुभूति के भूखे कष्ट-पीड़ित पत्रकार को Appreciation या दाद की जितनी जरूरत है, उतनी किसी दूसरी चीज की नहीं। वह अपने कष्टों को सन्तोषपूर्वक सहन कर सकता है. यदि उसे विश्वास दिला दिया जाय कि उसके जीवन का भी कुछ उपयोग है। गणेश जी एक सफल पत्रकार थे, मनोविज्ञान के अच्छे ज्ञाता थे और सबसे बढ़कर बात यह है कि वे एक सहृदय मनुष्य थे। अपने संकटग्रस्त पत्रकार बन्धुओं की इस प्रकार सहायता करना कि उनके आत्मसम्मान को किसी प्रकार की ठेस न पहुँचने पावे, वे खूब जानते थे।

नवम्बर १९२० में मैंने एक पत्र अपने विषय में उन्हें लिख भेजा। १९१५ और १९२० के बीच में उनसे घनिष्ठ परिचय हो चुका था, इस कारण यह हिम्मत पड़ी। उन्होंने इस पत्र का जो उत्तर भेजा, वह इतना उत्साहप्रद था कि उसे मैंने सार्टिफिकेट के लिफाफे में रख छोड़ा, उसके कुछ अंश उद्धृत करता हूँ, प्रारम्भ की प्रशंसात्मक पंक्तियाँ छोड़ दी गई हैं—

१६।११।२०

प्रियवर चतुर्वेदी जी,

बन्दे !

आपका कृपापत्र प्राप्त हुआ। .. आपने जो कुछ लिखा, वह मुझे हृदय से स्वीकार है। प्रताप आप का है। आप वैसे कहें, तो प्रताप की सारी शक्तियाँ आप के चरणों में अर्पित हो जायँ। Charity की बात नहीं। ऐसी आत्माओं के कुछ भी काम आना सौभाग्य है, अपने काम का पोषण है, लक्ष्य-सिद्धि की ओर बढ़ना है। दैनिक प्रताप २२ तारीख से निकलने लगेगा। आप उसके लिए छोटे-छोटे लेख लिखें। मैं समझता हूँ कि बड़े लेख कम पढ़े जाते हैं। एक अंक में एक बात पूरी हो जाय। आप हर मास १०, १२, १५ तक ऐसे लेख दें। आपकी जो आज्ञा होगी, प्रताप उसे आपके चरणों में रक्खेगा।

हमने अभी यह तय किया है कि जिन लेखकों से हम दैनिक में लिखावेंगे, उन्हें एक रुपया कालम देंगे, परन्तु आपके लिए आपकी आज्ञा हमें मान्य होगी। योग्य सेवा का आदेश दें।

आपका—

ग० शं० विद्यार्थी।

महीने में २५, २६ दिन निकलनेवाले दैनिक पत्र में १०, १२, १५ लेख छापने का वचन देना और साथ ही यह भी कह देना कि अपने लेख का मूल्य भी अपनी इच्छानुसार लगा लो, कितनी भारी सहायता थी। यद्यपि इस सहायता के उपयोग करने का मौका ही नहीं आया, क्योंकि उसकी आवश्यकता ही नहीं रही थी, पर आज भी उस सन्तोष का स्मरण करके हृदय गद्गद हो जाता है जो उपर्युक्त पत्र के मिलने पर प्राप्त हुआ था।

अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी गणेशजी अपने पत्रकार बन्धुओं का बराबर ख्याल रखते थे। किन-किन कठिनाइयों में उन्हें काम करना पड़ता था, उसका अनुमान उनके एक पत्र के निम्न लिखित अंश से किया जा सकता है।

प्रिय चतुर्वेदीजी, बन्दे !

आप बहुत नाराज होंगे। आप लम्बे पत्र भेजते हैं, मैं ठीक ठीक उत्तर भी नहीं देता। क्या करूँ, मुझे काम की अधिकता की शिकायत नहीं है, मुझे शिकायत इस बात की है कि मैं इतना दुर्बल क्यों हूँ कि इतना कम काम कर पाता हूँ। यदि मैं २४ घंटा काम कर सकता, तो आलस्य न करता। इस समय तो घूमना तक छूटा हुआ है। घर की चिन्ताओं से घर के बाहर निकलते ही छूट जाता हूँ, और बाहर से घर पहुँचते ही, घर की चिन्ताओं में दब जाता हूँ। दोनों ओर खाईं है। आज पाँच रात से बराबर जागकर दो बच्चों की, जिन्हें नियूमोनियाँ हो गया है, सेवा कर रहा हूँ और दिन को जब कार्यालय में आता हूँ तो प्रताप के कार्य में नहीं, दूसरे कामों की बाढ़ में बह जाता हूँ। हालत उस तिनके की-सी है, जो तेज बहाव में ठहर नहीं पाता और बहता ही चला जाता है। खैर, यह तो आत्म-कथा है और इतनी लम्बी चौड़ी है कि कई पत्रों में भी समाप्त नहीं हो सकती। कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसे आदमी से आप अधिक आशा न कीजिए। लेख लिखना बहुत कठिन है। दो सप्ताह से प्रताप ही में कुछ नहीं लिख पाया हूँ। बाहर के किसी सज्जन के लिए लिखूँगा तो आपके लिए सबसे पहले लिखूँगा।

आपका

ग० श० विद्यार्थी।

इस प्रकार व्यस्त रहने पर भी उन्हें यह बात नहीं भूलती थी कि उनका अमुक पत्रकार-बन्धु संकट में है, उसे कहीं काम पर लगाना है। उनका एक पत्र यहाँ उद्धृत किया जाता है—

कानपुर १४।४।२७।

प्रिय चतुर्वेदीजी, बन्दे !

आप प्रयाग के मेजर बसु और उनके पाणिनि आफिस को अवश्य जानते होंगे। मेजर साहब के पास दस-बारह हजार पुस्तकें हैं। वे Indian Academy नाम की एक संस्था बनाना चाहते हैं जहाँ कुछ विद्वान् बैठकर

भारतीय इतिहास के रिसर्च का काम करें। मेजर साहब के पास इस काम के लिए बहुत मशाला है। वे अपनी किताबें, कुछ जमीन और कुछ रुपया देना चाहते हैं और यह चाहते हैं कि कोई सत्पात्र इस काम को उठा लेवे, और कई सज्जनों की एक कमेटी बन जाय जो आवश्यक फंड का प्रबन्ध कर ले। सुन्दरलालजी तथा मेरी दृष्टि आप पर पड़ी। क्या आप प्रयाग में रह कर इस काम को आगे बढ़ा सकते हैं? फंड की कमी न रहेगी, यदि कोई एक आदमी भी जुटानेवाला मिल जाय। मेजर बूढ़े आदमी हैं। वे कुछ लिखने का काम कर और करा सकते हैं, इससे अधिक और कुछ नहीं। यदि आपको सुविधा हो तो आप इलाहाबाद जाकर मेजर बसु और सुन्दरलाल जी से मिल लीजिए। इसमें जो खर्च होगा मैं दूँगा। उत्तर शीघ्र दीजिए। आशा है, आप सानन्द होंगे।

आपका

ग० शं० विद्यार्थी

कौन हिन्दी सम्पादक ऐसा है जो अपने भाइयों का इतना ध्यान रखता है? काम तलाश करना और आने-जाने का खर्च भी अपने पास से देने के लिए कहना!

गणेश जी के बन्धुत्व में कृत्रिमता नहीं थी, वह पूर्णतया स्वाभाविक थी। वे अपने साथियों से कामरेडशिप का बर्ताव करते थे और उन्हें खूब स्वतंत्रता देते थे, यहाँ तक कि उनके साथी उन्हें उसी प्रकार खरी-खोटी सुना सकते थे, जिस प्रकार कोई अपने घर के बड़े भाई को सुना सकता है। इस प्रसंग में एक बात याद आ रही है। 'विशाल भारत' की आलोचना 'प्रताप' में हो गई थी और यह काफी प्रशंसात्मक भी थी, पर वह गणेशजी की लिखी नहीं थी। बस इसी बात से मैं असंतुष्ट हो गया। इसके बाद प्रताप कार्यालय से एक ब्लाक उधार मँगाया, जो मैनेजर ने भेज दिया, पर साथ ही यह भी लिख दिया कि ब्लाक उधार देने में हमें बड़ी असुविधा होती है। यह बात भी मुझे बुरी लगी। सोच लिया कि

कभी कानपुर पहुँचकर गणेशजी को खूब खरी-खोटी सुनाऊँगा। एक अवसर आ भी गया। कानपुर उतरा और प्रताप कार्यालय में डेरा जा जमाया। गणेश जी उस समय आफिस में थे नहीं। सामान रखकर एक कुर्सी पर बैठ गया। सामने मेज थी। गणेश जी आए। मैं उठने लगा। वे बोले, "अरे भाई बैठे भी रहो!" ऐसा कहकर कन्धों पर हाथ रख के कुर्सी पर बिठला दिया और स्वयं मेज के सहारे खड़े हो गये। मैंने कहा, "मैं तो आज आपको Condemn करने आया हूँ, अच्छी तरह डाँट बताने के लिए!"

गणेश जी ने हँसकर कहाँ, 'कहो भी तो क्या हुआ, आखिर बात क्या हुई?"

मैंने कहाँ, "बात क्या है! मैंने तय कर लिया है कि अब 'विशाल भारत' में खूब घासलेटी किस्से छापा करूँगा। आपने अमुक घासलेटी पत्र की लम्बी आलोचना प्रताप में की है और हमारे पत्र के विषय में कुल जमा आठ-दस लाइनें निकली हैं, सो भी आपने नहीं लिखीं" और भी न जाने क्या-क्या बात उस समय अभिमानवश कह गया, मानों गणेश जी कोई भयंकर अपराधी हों और मैं कुर्सी पर बैठा हुआ जज!

गणेश जी मुस्कुराये और बोले "बस इतनी ही बात है? यही मेरा घोर अपराध है? अच्छा भाई अबकी बार खुद लिखूँगा।"

मैंने कहाँ, "दूसरा अपराध आपने और भी किया है। ब्लाक उधार नहीं दिए"।
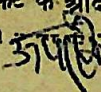
इस पर गणेश जी ने सारा किस्सा सुनाया।

'दिल्ली के अमुक पत्र ने प्रताप के इतने ब्लाक हजम कर दिए, और फलाँ अखबार ने ब्लाकों को बिलकुल खराब कर दिया। बताओ, इस हालत में क्या किया जाय। आफिस को General instruction दे रखी है कि ब्लाक बाहर न भेजे जायँ। तुम्हारी चिट्ठी आई होगी। मैनेजर ने जवाब दे दिया होगा। मैं तो सब चिट्ठियाँ देखने से रहा। अच्छा अब

जो ब्लाक चाहो उठा ले जाओ। मैनेजर को मैं कह दूँगा, पर यह तुम्हें बतला देना चाहता हूँ कि अगर तुम आफिस से ब्लाक उधार देना शुरू करोगे तो तुम्हें भी यही कटु अनुभव होगा।" गणेश जी की बात बिलकुल ठीक थी। मुझे भी आगे चलकर इस विषय में वैसे ही कडुवे अनुभव हुए।

हिन्दी और अंग्रेजी के अनेकों सम्पादकों से मेरा परिचय है, पर किसी के सामने इस स्वतंत्रता के साथ खरी-खोटी सुनाने की हिम्मत मुझमें नहीं है और कौन छुटभइयों को इतनी स्वतंत्रता देता है? हाँ, यह कहना मैं भूल गया कि कुछ दिनों बाद गणेश जी ने 'विशाल भारत' की दो ढाई कालम की आलोचना स्वयं ही प्रताप में की।

मेरा विचार बहुत दिनों से पूज्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी का जीवन चरित लिखने का था, पर इसके लिए उनकी सेवा में महीने-दो महीने रहने की आवश्यकता थी। समय तो मेरे पास था, पर साधन नहीं थे। किसी से कहने की हिम्मत नहीं पड़ी। बहुत दिनों बाद यों ही मैंने गणेश-जी को भेजे गए एक पत्र में अपने इस पुराने विचार का जिक्र कर दिया। इस पर उन्होंने जो पत्र लिखा, उसे यहाँ उद्धृत करता हूँ—

प्रिय चतुर्वेदीजी, वन्दे!

आपका ६ दिसम्बर का एक पत्र मेरी डाक में पड़ा हुआ था। वह आज फिर दिखाई दिया। बीमारी के कारण उत्तर न दे सका था। आज कुछ समय मिला, इसीलिए आपके उस पत्र का उत्तर लिख रहा हूँ। दोनों आलोचनाएँ अर्थात् 'विशाल भारत' की और 'चाँद' के उस अंक की मेरी ही लिखी हुई थीं। आपने द्विवेदीजी के पत्र की नकल भेजकर मेरी धारणा को और भी दृढ़ कर दिया। मैं उन्हें बहुत पहले से बहुत कोमल भावनाओं का व्यक्ति मानता हूँ। वे छोटी-छोटी अनुकम्पा को नहीं भूलते, और अपने निकट के आदमियों को इतना चाहते हैं कि देख कर दंग रह जाना पड़ता है। उधर उनमें इतनी शुष्कता दिखाई देती है कि दूर का

आदमी उनसे सदा घबड़ाया करता है। आपने यह अवसर बुरा छोड़ा। दो-चार सौ रुपए की तो कोई बात नहीं है। अब भी मैं तैयार हूँ। आप ऐसा पारखी ही उन्हें अच्छी तरह समझ सकता है। किसी समय भी आप समय निकालिए। आंप जानते हैं कि 'जानसन' बड़ा होते हुए भी इतना बड़ा न समझा जाता, यदि उसकी जीवनी का लेखक 'बोसवेल' न बनता। आप पूज्य द्विवेदीजी के पास कुछ दिन अवश्य रह जाइए। सम्भव है, वे अभी जिएँ। किन्तु किसी के जीने के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। उनमें कितने ही ऐसे गुण हैं कि आनेवाली संतति उन गुणों की कथा सुनकर ही बहुत कुछ सीख सकेगी। आप उनके 'बोसवेल' बन जाइए, जो खर्च पड़े उसका जिम्मेदार मैं। आपके पास भी कामों की कमी नहीं हैं, किन्तु दो-तीन बार में आप कुछ सप्ताहों का समय निकाल सकते हैं। आशा है, आप मेरी इस प्रार्थना पर पूरी तरह ध्यान देंगे। मेरे योग्य सेवा लिखते रहें।

आपका
ग० शं० विद्यार्थी

मैं ऐसे सपूतों को जानता हूँ, जो अपने पिता की स्मृति-रक्षा के लिए एक पैसा भी खर्च नहीं करना चाहते। बड़े परिश्रम के साथ मैंने एक साहित्यसेवी के जीवन-चरित्र के लिए नोट लिए और मशाला संग्रह किया। जब मैंने जीवन-चरित लिखने का विचार किया, उनके पुत्र बजाय कुछ मसाला भेजने के मुझ से मेरे नोट ही वापस मँगाने लगे। दूसरे महानुभाव बिना कुछ खर्च किए जीवन-चरित्र लिखाने की फिक्र में हैं। विचारणीय बात यह भी है कि ये दोनों सज्जन खूब खाते-पीते खुसोखुर्रम हैं, पर पिता का सच्चा श्राद्ध करने के लिए न उनके पास पैसा है और न समय! इनकी तुलना कीजिए गणेशजी की उदारता से, जो आर्थिक संकट में रहते हुए भी चार सौ रुपये तक केवल इसीलिए खर्च करने को तैयार थे कि उनके गुरु पूज्य द्विवेदीजी का जीवन-चरित लिखा जाय।

एकबार श्रद्धेय गणेशजी ने मुझे बहुत समझाया और कहा Self-Sacrifice (आत्मत्याग) और Suicide (आत्मघात)—ये दोनों अलग चीज हैं। अपने लेखों के लिए पुरस्कार लिया करो और बहुत दिनों तक उन्होंने प्रताप से पाँच रुपया प्रति पृष्ठ के हिसाब से पुरस्कार दिया भी।

गणेशजी की इस प्रकार की कृपा केवल मुझी पर रही हो, सो बात नहीं। अनेक लेखक आज उनकी कृपाओं का स्मरण कर आँसू बहाते हैं।

अभी उस दिन एक पत्रकार ने कहा—

"मैं एक सज्जन से मिलने आगरे गया हुआ था। रेल से वापिस आने के लिए पैसे पास थे नहीं, और उन महाशय से माँगने में संकोच हुआ, इस लिए पैदल ही चल पड़ा। रास्ते में एक महाशय मिल गए, जो गणेशजी के और मेरे, दोनों के परिचित थे। उन्होंने बातचीत में पूछा तो मैंने कारण बतला दिया। उन्होंने यह बात कहीं गणेश जी से जाकर कह दी। बस उन्होंने तुरन्त ही पचास रुपये का मनीआर्डर भेज दिया और लिखा 'तुम भी अजीब आदमी हो, भला अपनों से इतना संकोच! हमें रूखी-सूखी खाने को मिलती है तो हम-तुम बाँटकर खा लेंगे' पत्र के शब्द ठीक-ठीक ये नहीं थे पर आशय यही था। मैं अपनी इस भूल पर कि मैंने उस आदमी से यह बात क्यों कही, बड़ा लज्जित हुआ।"

हमारे पड़ोसी एक दूसरे पत्रकार कहते हैं :—

"मुझे एक अत्यन्त आवश्यक घरेलू कार्य के लिए दो-सौ रुपये की जरूरत थी। कहीं से मिलने की सुविधा नहीं थी। गणेश जी के पास गया। प्रताप कार्यालय में भी उस दिन रुपये नहीं थे। गणेश जी ने अपने एक साथी को बुलाकर कहा 'देखो जी मेरी जिम्मेदारी पर दो सौ रुपये अमुक दूकान से लाकर इनको दे दो। इनका काम चलने दो, फिर पीछे देखा जायगा।"

सत्याग्रह आश्रम की बात है। लड़के को तेज बुखार आ गया था। मैं घबरा गया। डाक्टर चार-पाँच मील पर रहते थे। बन्धुवर हरिभाऊ उपाध्याय के पास गया। वे लेख लिखने में अत्यन्त व्यस्त थे। ज्यों ही मैंने जिक्र किया, उन्होंने तुरन्त ही कलम रख दी और साथ चल दिए। डाक्टर आए। लड़का स्वस्थ हो गया। मैंने हरिभाऊ जी से कहा "आप उस दिन फौरन ही मेरे साथ चल दिए, इससे मुझे बड़ा हर्ष हुआ।" उन्होंने कहा, यह बात मैंने गणेश जी से सीखी। चाहे जैसा जरूरी काम वे कर रहे हों, यदि उन्हें यह मालूम हो जाय कि किसी बीमार के लिए उनकी सेवा की जरूरत है तो वे तुरन्त अपना काम छोड़कर उस बीमार का काम करते हैं।"

सन् १६२४ के प्रारम्भ में पूर्व अफ्रिका जाते समय जहाज में डेक पर यात्रा कर रहा था। श्रीमती सरोजनी देवी ऊपर फर्स्ट क्लास में थीं। समुद्री बीमारी Sea Sickness के मारे नाकों दम था। चारों ओर स्त्री-पुरुष कै कर रहे थे। मेरे लिए यह प्रथम बार की समुद्र यात्रा थी, इसलिए और भी घबड़ा रहा था। उस समय गणेश जी जेल में थे। उनकी याद आ गई। मि० ऐन्ड्रूज का भी स्मरण हुआ। दिल में सोचा कि क्या ही अच्छा होता, यदि दुनिया में मि० ऐन्ड्रूज और गणेशजी जैसे सहृदय व्यक्ति बहुत से होते। अपने मन को शान्त करने के लिए उसी समय गणेशजी का एक छोटा-सा स्कैच अंगरेजी में लिखा। केनिया की राजधानी नैरोबी पहुँच कर मैंने पहला काम यह किया कि टाइप करके उस स्कैच की एक प्रति लीडर को भेजी। यह लेख लीडर के २१ फरवरी सन् १६२४ के अंक में प्रकाशित हुआ। उस लेख के दो वाक्यों का आशय निम्न लिखित हैं—

"प्रताप के उस प्रभाव के पीछे क्या है? गणेशशंकर विद्यार्थी का व्यक्तित्व। वे अपने व्यवहार में बिल्कुल कृत्रिमता नहीं रखते, उनका हृदय गरीबों के लिए द्रवीभूत हो जाता है और उनके मुखमण्डल से उनके

दीर्घ-कष्ट-सहन और पारदर्शी सचाई की आभा छिटकती है। गणेशशंकर विद्यार्थी के व्यक्तित्व का अपना आकर्षण है। उन्होंने बहुत कष्ट उठाए हैं, अनेकों मुसीबतों का सामना किया है और उनके जीवन में असंख्य दुःखप्रद दिवस तथा चिन्ताकुल रजनी व्यतीत हुई हैं। उन्हें तीन बार जेल भेजा जा चुका है और कष्ट-सहिष्णुता में उनका रैकर्ड अद्वितीय है।

स्वार्थ-भावना से रहित, दरिद्रनारायण की सेवा के सिवा जिसकी कोई दूसरी आकांक्षा नहीं और अन्याय तथा अत्याचार के विरुद्ध—चाहे वे किसी के द्वार, पूँजीपतियों या सरकार की ओर से, अथवा अनियंत्रित मानव समूह द्वारा किए जाते हों—सदा खड़ा होने का जिसमें अदम्य साहस है, प्रताप के योद्धा सम्पादक वह गणेशजी भारत की भावी शक्ति-शाली पत्रकारिता के प्रतिनिधि हैं।

× × × ×

गणेश जी हास्य प्रिय भी खूब थे और उनसे हँसी-मजाक भी खूब होता था। गोरखपुर के हिन्दी साहित्य सम्मेलन में वे प्रधान थे। जब उनका स्वागत हो चुका तो मिलने पर उन्होंने पूछा "अरे भाई" तुमने यह क्या घासलेट का झगड़ा खड़ा कर दिया है?"

मैंने कहा—"एक औरत थी। उसने नया गहना (कंगन) बनवाया। किसी ने पूछा भी नहीं! बस उसने अपनी झोपड़ी में आग लगा दी। और हाथ उठा-उठाकर आग बुझाने के लिए चिल्लाने लगी। लोग बुझाने आए। एक ने पूछा—'तुमने यह गहना कब बनवाया?' उस औरत ने कहा—'अगर यह बात तुम पहले ही पूछ लेते तो इस झोपड़ी में आग क्यों लगती?' सो आप पहले से ही हमारा समर्थन करते, तो यह घासलेट आन्दोलन क्यों खड़ा होता।"

यह सुनकर गणेश जी खूब खिलखिलाकर हँस पड़े, और बोले—"अच्छा समझ गए। यह तुम्हारी Personal-vanity (व्यक्तिगत अहंकार) है।"

सम्मेलन में गणेश जी के सभापति होने से यही प्रतीत होता था कि सम्मेलन अपना ही है। उनको जब कुछ गौरव प्राप्त होता था तो उसे वे मानो अपने साथियों में बाँट देते थे। गोरखपुर सम्मेलन में उनके साथियों को यह प्रतीत होता था, मानो हम ही सभापति हैं। पर गणेश जी अपने कार्य में या नियंत्रण में शिथिलता बिलकुल नहीं आने देते थे। बालकृष्ण जी शर्मा 'नवीन' तथा शिवनारायण जी इत्यादि को उन्होंने खासी डाट बतलाई। मैं भी उनसे झगड़ पड़ा और मुझे भी फटकार सुननी पड़ी।

आज उस दीनबन्धु के लिए किसान रो रहे हैं। कौन उनकी उदर-ज्वाला को शान्त करने के लिए स्वयं आग में कूद पड़ेगा? मजदूर पछता रहे हैं, कौन उन पीड़ितों का संगठन करेगा? मवेशीखाने से भी बदतर देशी राज्यों के निवासी अश्रुपात कर रहे हैं, कौन उन मूक पशुओं को वाणी प्रदान करेगा? ग्रामीण अध्यापक रुदन कर रहे हैं, कौन उनका-दुखड़ा सुनेगा और सुनावेगा? राजनैतिक कार्यकर्ता रो रहे हैं, कौन उन्हें आश्रय देकर स्वयं आफत में फँसेगा? कौन उनके कन्धे से कन्धा मिलाकर स्वातन्त्र्य-संग्राम में चलेगा? और एक कोने में पड़े हुए उनके कुछ पत्रकार बन्धु भी अपने को निराश्रित पाकर चुपचाप चार आँसू बहा रहे है। आपत्काल में कौन उन्हें सहारा देगा, किससे वे दिल खोलकर बात कहेंगे, किसे वे अपना बड़ा भाई समझेंगे, और कौन छुटभइयों का इतना ख्याल रखेगा?

देश में बहुत से पत्रकार हैं, और होंगे। प्रभावशाली व्यक्तियों की भी कमी नहीं। लीडर भी बहुत-से हैं, शायद जरूरत से ज्यादा। कई से अपना परिचय भी है, कुछ की कृपा भी है, पर गणेशजी-जैसा पत्रकारों का सखा, उनके संकट का सहारा, दूसरा नहीं मिला। इस जीवन में मिलने की आशा भी नहीं।

साहित्य और राजनीति

रामधारीसिंह 'दिनकर'

वर्तमान हिन्दी कविता की भूमि में आज एक कोलाहल-सा छा रहा है। लोग कहते हैं कि प्रगतिवाद के माध्यम से राजनीति साहित्य पर चढ़ी आ रही है और जिस कला-कक्ष में फूल और पत्तों की सजावट होनी चाहिए थी, उसमें मजदूरों के गन्दे चीथड़े, चिमनियों का धुआँ और खेतों की धूल भरती जा रही है। शुद्ध कला के उपासकों को यह जानकर चिन्ता हो रही है कि साहित्य राजनीति के हाथ का रणवाद्य बनता जा रहा है और उसके प्राणों की कलामयी दीप्ति दिनों-दिन क्षीण होती जा रही है।

दूसरी ओर प्रगतिवाद के उन्नायकों का वह दल है जो शुद्ध कला की कृतियों को आनन्द एवं पलायन का प्रयास कहकर उसकी हँसी उड़ाता है तथा सच्चे मन से विश्वास करता है कि जब जीवन में आँधी चल रही हो, दुनियाँ की कौमें हिस्टीरिया में मुब्तिला होकर आपस में पगले कुत्तों की तरह झगड़ रही हों तथा पराधीन-राष्ट्र अपने गले की तौकें उतार फेंकने के लिए बड़े-बड़े आन्दोलन चला रहे हों, ऐसे समय में कवि का अपनी वैयक्तिक अनुभूति के माया-बन्ध में बँधे रह जाना जीवन के प्रति साहित्य की दायित्व-हीनता का प्रमाण है। प्रगतिवादियों का यह दल

चाहता है कि समाज की इस संकटपूर्ण घड़ी में साहित्य अपने कल्पना के मायालोक से उतर कर पृथ्वी पर आये और मनुष्य को उन समस्याओं पर विजय प्राप्त करने में सहयोग दे जो आज समग्र विश्व को आपादमस्तक हिला रही हैं। प्रगतिवाद का आग्रह है कि लेखक और कवि अपनी अनुभूति के वृत्त को अधिक विस्तृत बनाएँ तथा उस विशाल जन-समुदाय की ओर भी देखें जो बहुत दिनों से उपेक्षित और विषण्ण रहा है। संसार की संस्कृति पर कब्जा करने के लिए सर्वहारा का जो विशाल समुदाय निम्नस्तर से उठता हुआ ऊपर की ओर आ रहा है, प्रगतिवाद उसे आगे बढ़कर गले लगाना चाहता है तथा साहित्य को निष्क्रियता से खींचकर उस मार्ग पर आरूढ़ करना चाहता है जिसका सीधा प्रसार भविष्य की ओर है।

प्रगतिवाद को मैं हिन्दी कविता का कोई नया जागरण नहीं मानता। खड़ी बोली की कविता में जागरण की एक ही लहर आई थी, जिसे हम छायावाद के नाम से जानते हैं, और १९२० ई० से लेकर आज तक कविता के क्षेत्र में जो भी रूपान्तर देखने को मिले हैं वे इसी जागर्ति के परिपाक की प्रक्रिया के परिणाम हैं। काव्य का जागरण-काल वह होता है जब जनता कविता की विलक्षणताओं के प्रति आकृष्ट होती है। प्रगतिवाद के प्रति जनता की वर्त्तमान अनुरक्ति का कारण प्रगतिशील रचनाओं की विलक्षणताएँ नहीं, प्रत्युत उनके भीतर से दमकनेवाले सामयिक जीवन का तेज है। जनता की अनुरक्ति अथवा कौतूहल के आधार पर किसी आन्दोलन को काव्य की जागर्ति का प्रमाण मानने के पूर्व हमें जनता को यह भी समझा देना चाहिए कि जो बातें कविता में कही जाती हैं वे ही बातें, कला के चमत्कार के विनाश के बिना, गद्य में नहीं कही जा सकतीं।

प्रगतिवाद साहित्य का नूतन जागरण नहीं, प्रत्युत उसी क्रान्ति के परिपाक का फल है जिसका आरम्भ छायावाद के साथ हुआ था। यह

सच है कि छायावाद की कुछ आरम्भिक रचनाएँ अशक्त और निःसार थीं तथा जीवन के वास्तविक रूपों से उनका सम्बन्ध नहीं के बराबर था, किन्तु यह दोष छायावाद से निकली हुई शैली का नहीं, प्रत्युत उन कलाकारों का था जो स्वयं ही जीवन के वास्तविक रूपों से पूर्णरूप से परिचित नहीं थे। प्रत्येक देश के साहित्य में छायावाद या रोमांसवाद का आगमन प्रायः उस समय हुआ है जिस समय उस देश में जीवन की रूढ़ियों और जड़ताओं के प्रति असंतोष के भाव उमड़ रहे थे। हिन्दी-साहित्य में भी अपनी समस्त असमर्थता एवं अशक्तताओं के रहते हुए भी छायावाद ने अपनी विद्रोहात्मक प्रवृत्ति को कभी भी विलुप्त नहीं होने दिया तथा जो राजनीतिक आन्दोलन आज प्रगतिवाद का बीज बो रहे हैं, उनके प्रति छायावाद का रुख आरम्भ से ही सहानुभूतिपूर्ण था।

छायावाद में अनेक प्रकार की संभावनाएँ छिपी हुई थीं तथा ज्यों ज्यों समय बीतता जाता था त्यों त्यों उसके कितने जौहर प्रकट होते जाते थे। १६२० से लेकर १६३०–३५ तक छायावाद ने कई प्रकार की प्रतिभाओं की संगति में रहकर अपनी अनेक प्रकार की क्षमताओं की परीक्षा दी थी। पन्त जी ने उससे ओस और ऊषा को चित्रित करने का काम लिया था तथा निराला जी ने उसके माध्यम से पौरुष और जागरण के महागान गाये थे। प्रसाद जी की गंभीर एवं रसस्निग्ध दार्शनिकता का भार उसने सफलतापूर्वक वहन किया था तथा 'अन्तर्जगत्' और अनुभूति के कवियों की वैयक्तिक भावनाओं की अभिव्यक्ति में उसने पूरी सहायता पहुँचाई थी। इतना ही नहीं, वरन् महादेवी जी के समान जो कवि कुहेलिका के भीतर छिपकर चलना चाहते थे, छायावाद उन पर भी अपना झिलमिल आवरण डाल सकता था तथा सुभद्रा कुमारी की तरह जो लोग प्रकाश में कुछ खुलकर चलना चाहते थे उन्हें भी वह आलोक दे सकता था। पुष्ट एवं प्रगाढ़ भावनाओं के समर्थ कवि श्री मैथिलीशरण जी की कल्पना में अपनी मायाविनी किरणें डालकर छायावाद

ने उनसे 'झंकार' के गीतों की रचना करवाई थी तथा हिन्दी की इतिवृत्तात्मक कही जानेवाली राष्ट्रीय कविताओं को उसने स्पर्शमात्र से कलापूर्ण एवं दिव्य बना दिया था।

ज्यों-ज्यों बाढ़ का पानी निकलता गया, छायावाद की धारा स्वच्छ एवं स्वास्थ्यपूर्ण होती गई। आज छायावाद की आदि-कुहेलिका का कहीं पता नहीं है। अब हमारे साहित्य में प्रायः सर्वत्र ही प्रतिभा की पुष्ट एवं सुस्पष्ट किरणें विकीर्ण हो रही हैं। जो कल्पना पहले भ्रूण की तरह अस्थि-विहीन दीखती थी, उसके भीतर आज विचारों का रीढ़ पैदा हो गई है तथा वह यथेष्ट रूप से मांसल और बलिष्ठ है। 'अन्तर्जगत्', 'अनुभूति' और 'नीहार' के सोपान बहुत पीछे छूट चुके हैं। आज हिन्दी-कविता जहाँ आकर खड़ी है वह 'कामायनी', 'तुलसीदास' और 'ग्राम्या' का देश है। स्वयं महादेवी जी की आध्यात्मिक अनुभूतियाँ अब अधिक सुबोध एवं सुस्पष्ट हो गई हैं तथा निराशा के जो अश्रु छायावाद को अशक्त बनाए हुए थे उनकी जगह अब 'सतरंगिनी' के रंग उगते जा रहे हैं।

यह छायावाद के सुधार की प्रक्रिया का परिणाम है और इसे ही मैं काव्य की सच्ची प्रगति मानता हूँ। हमारा साहित्य आकाश से उतर कर मिट्टी की ओर आ रहा है तथा वस्तु एवं आदर्श के इस संतुलित योग से वह महान् क्रांति चरितार्थ होने जा रही है, साहित्य में जिसकी घोषणा आज से २५ वर्ष पूर्व की जा चुकी थी। आज हिन्दी के अधिकांश कवि जीवन के उतने समीप आ गए हैं जहाँ से वे उसके कोलाहल को स्पष्टतापूर्वक सुन सकें। 'मिट्टी और फूल' से लेकर 'तारसप्तक' तक यही ध्वनित होता है। साहित्य में जीवन के इस प्रतिनाद को जो लोग प्रतिवाद कहकर एक भिन्न नाम से पुकारना चाहते हैं, उनसे मेरा कोई बड़ा मतभेद नहीं हो सकता। सिर्फ निजी दृष्टिकोण से मैं इसे छायावाद का जीवनोन्मुख विकास मानता हूँ। यह कथन इसलिए भी युक्तियुक्त माना जाना चाहिए कि प्रगतिवाद के अन्दर गिने जानेवाले अधिकांश कवि वे ही हैं जो

छायावाद का नयन अथवा अनुगमन करते हुए यहाँ तक आए हैं। यही नहीं, प्रत्युत प्रगतिवाद का अग्रणी होने का श्रेय आज जिस कवि को दिया जा रहा है उसी के सिर पर छायावाद का उन्नायक होने का मुकुट भी रखा गया था। इसके सिवा, समासोक्ति, अन्योक्ति, विशेषण विपर्यय अथवा मानवीकरण, शैली-पक्ष की कितनी ही विशेषताएँ आज भी वे ही हैं जिनका नूतन उत्थान और विकास छायावाद-युग में ही हुआ था।

हमें हर्षित होना चाहिए कि छायावाद की विलक्षणताओं से युक्त हिंदी-कविता आज जीवन के विकराल प्रश्नों से उलझना सीख रही है। कवि केवल भावनाओं का ही उपासक नहीं होता, प्रत्युत उसे कठोरताओं से भी जूझने का पूरा अधिकार है। अगर कोई कलाकर यह समझता है कि वह काँटों की तसवीर सुन्दरता के साथ खींच सकता है तो कला का कोई ऐसा कानून नहीं जो उसकी इस क्रिया का वर्जन करे। अगर किसी कवि को ऐसा ज्ञात होता है कि वह अपने गीतों के बल से संसार में भूडोल ला सकता है तो उचित है कि सबसे पहले वह यही काम करे. सार्वजनिक विपत्ति के दिनों में ऐसा कौन अभागा मनुष्य होगा जो अपनी वैयक्तिक भावनाओं को उचित से अधिक महत्व दे सके? इतना ही नहीं, बल्कि साहित्य की बल-वृद्धि के लिए यह भी आवश्यक है कि कवि कला के भीतर से जीवन के उन तमाम क्षेत्रों को देखे जिनकी आँधियों और उलझनों का प्रभाव मनुष्य की संस्कृति पर व्यापक रूप से पड़ता है। अगर यह प्रचारक न होकर शुद्ध कलाकार है तो जीवन को वह दर्शन राजनीति अथवा विज्ञान, चाहे जिस किसी भी दृष्टि से देखे, उसकी अनुभूति कवि की अनुभूति तथा उसके उद्गार कलाकार के उद्गार होंगे एवं साहित्य का उसके हाथों कोई अपमान नहीं हो सकता।

कवि का प्रधान कर्म अनुभूतियों का ग्रहण एवं उसकी सम्यक् अभिव्यक्ति है तथा जिस प्रकार उसकी आध्यात्मिक भावना एवं प्रेमपरक अनुभूतियाँ सुन्दर और सत्य होती हैं, उसी प्रकार राजनीतिक अवस्थाओं

की भी उसकी स्वानुभूति राजनीति से भिन्न एवं शुद्ध साहित्य की वस्तु होती है। जो लोग यह समझते हैं कि केवल प्रेम, विरह, नदी और फूलों की ही अनुभूतियाँ सच्ची और बाकी सबको सब प्रचार होती हैं, वे कोमलता की रुचि से ग्रस्त होने के कारण सत्य के पूरे रूप को देख सकने में असमर्थ हैं। रेशमी बालों, पत्थरों और फूलों को सुन्दरता की अनुभूति तो सच्ची, किन्तु पेट की पीड़ा की अनुभूति प्रचार समझी जाय, यह ईश्वर के देखने योग्य दृश्य है।

कला के क्षेत्र में हमारा दृष्टिकोण सच्चे अनिषेध का होना चाहिए। कवि के लिए जो प्रथम तथा अन्तिम बन्धन हो सकता है वह केवल इतना ही है कि कवि अपने आप के प्रति पूर्ण रूप से ईमानदार रहे। समन्वय कला की सुन्दरता का मूल है। जिस प्रकार आकाश में विचरण करनेवाले कलाकार को पैरों के नीचेवाली मिट्टी का ध्यान बनाए रहना आवश्यक है, उसी प्रकार मिट्टी को सर्वस्व समझ लेनेवाले कलाकार को यह याद रखना जरूरी है कि उसका विहार-स्थल आकाश भी है। कवि जिस प्रकार फूलों और नदियों के पास केवल रसानुभूति के उद्देश्य से जाता है, उसी प्रकार जीवन के अन्य अंगों से भी वह रस ही प्राप्त करता है हम पूरे दायित्व के साथ कहना चाहते हैं कि पेट की पीड़ा की अनुभूति लिखनेवाला कवि किसी प्रकार भी प्रेम की पीड़ा की अनुभूति लिखनेवाले से हीन नहीं है।

साहित्य राजनीति का अनुचर नहीं, वरन् उससे भिन्न एक स्वतन्त्र देवता है और उसे पूरा अधिकार है कि जीवन के विशाल क्षेत्र में से वह अपने काम के योग्य वे सभी द्रव्य उठा ले जिन्हें राजनीति अपने काम में लाती है। यदि कार्ल मार्क्स और गाँधीजी को यह अधिकार प्राप्त है कि जीवन के अवस्था-विशेष की अनुभूति से वे राजनीति का सिद्धान्त निकाल लें तो एक कवि को भी यह अधिकार सुलभ होना चाहिए कि ठीक उसी अवस्था की कलात्मक अनुभूति से ज्वलन्त काव्य की सृष्टि करे। अगर

राजनीति अपनी शक्ति से सत्य की प्रतिमा गढ़कर तैयार कर सकती है, तो साहित्य में भी इतनी सामर्थ्य है कि वह उसके मुख में जीभ धर दे।

साहित्य के क्षेत्र में हम न तो गोयबेल्स की सत्ता मानने को तैयार हैं, जो हमसे नाजीवाद का समर्थन लिखवाता है और न किसी स्टालिन की ही, जो हमारे शरीर और मन के किसी भी विकास की दिशा का निर्धारण हमें करने नहीं दे सकता। हमारे लिए फरमान न तो क्रेमलिन से आ सकता है और न आनन्दभवन से ही। अपने क्षेत्र में तो हम सिर्फ उन्हीं नियन्त्रणों को स्वीकार करेंगे जिन्हें साहित्य की कला अनन्त काल से मानती चली आ रही है। साहित्य की विलक्षणता की जाँच आर्थिक सिद्धान्तों से करनेवाले लोग ठीक उसी प्रकार भ्रांत हैं जैसे वे लोग, जो समग्र साहित्य की परीक्षा केवल कोमलता के रूढ़ संस्कारों की पृष्ठभूमि पर करना चाहते हैं।

साहित्य राजनीति से महान् न भी हो, तो भी वह उससे सर्वथा भिन्न और स्वतन्त्र है। अगर वह कभी राजनीति के क्षेत्र में अपनी किरणें फेंकता है तो इसका कारण यह नहीं है कि साहित्य राजनीति के अधीन है, प्रत्युत यह है कि राजनीति उस जीवन का एक प्रमुख अंग है जो अपनी पूरी विविधता के साथ साहित्य की व्याख्या का विषय होता है। जिस प्रकार साहित्य जीवन के अन्य अंगों से रसानुभूति प्राप्त करता है उसी प्रकार राजनीति से भी वह रस ही ग्रहण करता है। साहित्य जहाँ तक अपनी मर्यादा के भीतर रहकर जीवन के विशाल क्षेत्र में अपना स्वर ऊँचा करता है, वहाँ तक वह पूज्य और चिरायु है, किन्तु जभी वह राजनीति की अनुचरता स्वीकार करके उसका प्रचार करने लगेगा तभी उसकी अपनी दीप्ति छिन जायगी और वह कला के उच्च पद से पतित हो जायगा। साहित्य स्वयं जागरूक और चैतन्य है। विशेषतः कविता की प्रतिष्ठा ही विशिष्ट प्रकार के कवियों के कारण होती है जो अपने ही युग में अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक जीवित और चैतन्य होते हैं। प्रत्येक युग अपने कवि की प्रतीक्षा करता है, क्योंकि उसके आगमन के साथ यह रहस्य खुलने लगता है कि उस

युग की चेतना किस दिशा में अथवा किस स्तर तक विकसित हुई है। सघ रचकर साहित्य को किसी दिशा-विशेष की ओर प्रेरित करने का प्रयास यह बतलाता है कि आन्दोलनकारियों का साहित्य की निसर्ग-सिद्ध जागरूकता में विश्वास नहीं। किंतु ऐसे लोगों को यह भी याद रखना चाहिए कि जिस अनुभूति को साहित्य स्वतः ग्रहण करने को तैयार नहीं है, उसकी ओर उसे जबरन ले जाने का प्रयास अप्राकृतिक और तिरस्कार्य है, क्योंकि किसी दल या संघ में यह शक्ति नहीं है कि वह विश्वास के विपरीत अथवा उसके बिना किसी भी कवि या लेखक से सत्साहित्य का एक टुकड़ा भी लिखवा ले।

किसी भी कृति को मार्क्सवादी सिद्धान्तों की कसौटी पर कसकर उसे क्रान्तिकारी अथवा श्रेष्ठ सिद्ध करने की चेष्टा अयुक्तियुक्त एवं अन्यायपूर्ण है, क्योंकि अर्थशास्त्र के सिद्धान्त वे ही नहीं हैं जिनसे कला की जाँच की जाती है। मनुष्य को भूख इसलिए नहीं लगती कि उसके पास रोटी खरीदने के लिए पैसे मौजूद हैं और न पैसों के अभाव में उसकी क्षुधा रुकी ही रहती है। उसी प्रकार कला भी आत्मा की प्रेरणा से तथा उसकी आवश्यकताओं के अनुसार जन्म ग्रहण करती है। मार्क्सवाद यह भले ही बतला दे कि किसी कला के रूप-विशेष का विकास किसी युग-विशेष में ही क्यों हुआ, किंतु उसका यह धर्म नहीं है कि वह आन्दोलनों के द्वारा अपनी राजनीतिक आवश्यकताओं के अनुसार साहित्य की रूप-रेखा को पलटने का प्रयास करे।

हिन्दी कविता स्वयं सँभलकर अपनी ही चेतना से प्रेरित होकर, जीवन के समीप आ गई है। अब उसे प्रचार के हल में जोतना उसके साथ अन्याय करना है। फिर मार्क्सवाद जिस समाज की कल्पना का लोभ दिखाकर साहित्य को अनुकरण की ओर प्रेरित कर रहा है, वह भी कला के स्वाभाविक विकास के लिए घातक हो सकता है। यह आवश्यक नहीं कि सभी देशों के समाज के नवनिर्माण की रूप-रेखा ठीक वही हो, जिसकी प्रेरणा रूस से आ रही है। प्रत्येक देश की अपनी समस्याएँ, अपनी

परिस्थितियाँ और अपने प्रश्न हैं। उन्हीं के अनुरूप वहाँ समाज और कला का स्वाभाविक विकास होना चाहिए। जहाँ अन्तरराष्ट्रीयता के एक ढाँचे को आदर्श कहकर उसे सभी देशों पर लादने की कोशिश की जाती है, वहाँ समाज और साहित्य, दोनों के ही रूप अप्राकृतिक एवं अनुकरणशील हो जा सकते हैं। हमारे यहाँ की कला की कृतियों की जाँच हमारी ही आवश्यकताओं की पृष्ठ-भूमि पर की जानी चाहिए। अन्तरराष्ट्रीयता के नारों के बीच राष्ट्रीयता को दबा देने का प्रयास हमारे लिए मंगलकारी नहीं हो सकता।

हम पराधीन जाति के सदस्य हैं। अन्तरराष्ट्रीयता की अनुचित उपासना से हमारी राष्ट्रीय शक्ति का ह्रास होगा। राष्ट्रीयता हमारा सबसे महान् धर्म और पराधीनता हमारी सबसे बड़ी समस्या है। जो लोग हमें अन्तरराष्ट्रीयता के भुलावे में डालकर हमारी आँखों को दिल्ली से हटाकर अन्यत्र ले जाना चाहते हैं, वे अवश्य ही हमें धोखा दे रहे हैं।

मास्को का हम आदर करते हैं, किन्तु हमारे रक्त का एक-एक बिंदु दिल्ली के लिए अर्पित है। जब तक दिल्ली दूर है, मास्को के निकट या दूर होने से हमारा कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। पराधीन देश का मनुष्य सबसे पहले अपने ही देश का मनुष्य होता है। विश्व-मानव वह किस बल पर बने और विश्व-मानव की पंक्ति में गुलामों को बैठने ही कौन देता है? हमारे समस्त अभियानों का एकमात्र स्पष्ट लक्ष्य दिल्ली है। जब तक दिल्ली की जंजीरें नहीं टूटतीं, हमारे अन्तरराष्ट्रीयता के नारे निष्फल और निस्सार हैं। मास्को के उत्थान या पतन से भारत के गौरव या ग्लानि की वृद्धि नहीं होती। हमारे अपमान की आग तो दिल्ली में जल रही है।

अशोक के फूल

हजारीप्रसाद द्विवेदी

अशोक में फिर फूल आ गए हैं। इन छोटे-छोटे लाल-लाल पुष्पों के स्तवकों में कैसा मोहन भाव है। बहुत सोच-समझ कर कन्दर्प-देवता ने लाखों मनोहर पुष्पों को छोड़कर सिर्फ पाँच को ही अपने तूणीर में स्थान देने योग्य समझा था। एक यह अशोक ही है।

लेकिन पुष्पित अशोक को देखकर मेरा मन उदास हो जाता है। इसलिए नहीं कि सुन्दर वस्तुओं को हतभाग्य समझने में कोई विशेष रस मिलता है। कुछ लोगों को मिलता है। वे बहुत दूरदर्शी होते हैं। जो भी सामने पड़ गया उसके जीवन के अन्तिम मुहूर्त्त तक का हिसाब वे लगा लेते हैं। मेरी दृष्टि इतनी दूर तक नहीं जाती। फिर भी मेरा मन इस फूल को देखकर उदास हो जाता है। असली कारण तो मेरे अन्तर्यामी ही जानते होंगे, कुछ थोड़ा-सा मैं भी अनुमान कर सका हूँ। उसे बताता हूँ।

भारतीय साहित्य में और इसीलिए जीवन में भी, इस पुष्प का प्रवेश और निर्गम दोनों ही विचित्र नाटकीय व्यापार हैं। ऐसा तो कोई नहीं कह सकेगा कि कालिदास के पूर्व भारतवर्ष में इस पुष्प का कोई नाम ही नहीं जानता था, परन्तु कालिदास के काव्यों में यह जिस शोभा और सौकुमार्य

का भार लेकर प्रवेश करता है वह पहले कहाँ था ! उस प्रवेश में नव वधू के गृह-प्रवेश की भाँति शोभा है, गरिमा है, पवित्रता है और सुकुमारता है। फिर एकाएक मुसलमानी सल्तनत की प्रतिष्ठा के साथ-ही-साथ यह मनोहर पुष्प साहित्य के सिंहासन से चुप-चाप उतार दिया गया। नाम तो लोग बाद में भी लेते थे, पर उसी प्रकार जिस प्रकार बुद्ध, विक्रमादित्य का। अशोक को जो संमान कालिदास से मिला वह अपूर्व था। सुन्दरियों के आसिञ्जनकारी नूपुरवाले चरणों के मृदु आघात से वह फूलता था, कोमल कपोलों पर कर्णावतंस के रूप में झूलता था और चंचल नील अलकों की अचंचल शोभा को सौगुना बढ़ा देता था। वह महादेव के मन में क्षोभ पैदा करता था, मर्यादा पुरुषोत्तम के मन में सीता का भ्रम पैदा करता था और मनोजन्मा देवता के एक इशारे पर कन्धे पर से ही फूट उठता था। अशोक किसी कुशल अभिनेता के समान झम-से रंगमंच पर आता है और दर्शकों को अभिभूत करके खप-से निकल जाता है। क्यों ऐसा हुआ? कन्दर्प-देवता के अन्य बाणों की कदर तो आज भी कवियों की दुनियाँ में ज्यों-की-त्यों है। अरविन्द को किसने भुलाया, आम कहाँ छोड़ा गया और नीलोत्पल की माया को कौन काट सका! नवमल्लिका की अवश्य ही अब विशेष पूछ नहीं है, किन्तु उसकी इससे अधिक कदर कभी थी भी नहीं। भुलाया गया अशोक और मेरा मन उमड़-घुमड़कर भारतीय रस-साधना के पिछले हजार वर्षों पर बरवस जाना चाहता है। क्या मनोहर पुष्प भुलाने की चीज थी? सहृदयता क्या लुप्त हो गई थी? कविता क्या खो गई थी? ना, मेरा मन यह सब मानने को तैयार नहीं है। जले पर नमक तो यह कि एक तरंगायित पत्रवाले निफूले पेड़ को सारे उत्तर भारत में अशोक कहा जाने लगा। याद भी किया तो अपमान करके।

लेकिन मेरे मानने-न-मानने से होना क्या है? ईसवी सन् के आरंभ के आस-पास अशोक का शानदार पुष्प भारतीय धर्म, साहित्य और

शिल्प में अद्भुत महिमा के साथ आया था। उसी समय शताब्दियों के परिचित यक्षों और गन्धर्वों ने भारतीय धर्म-साधना को एकदम नवीन रूप में बदल दिया था। पंडितों ने शायद ठीक ही सुझाया है कि गन्धर्व और कन्दर्प वस्तुतः एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न उच्चारण हैं। कन्दर्प-देवता ने यदि अशोक को चुना है तो यह निश्चित रूप से एक आर्येतर सभ्यता की देन है। इन आर्येतर जातियों के उपास्य वरुण थे, कुवेर थे, वज्रपाणि यक्षपति थे। कन्दर्प यद्यपि काम देवता का नाम हो गया है तथापि है वह गन्धर्व का ही पर्याय। शिव से भिड़ने जाकर यह एक बार पिट चुके थे, विष्णु से भी डरते रहते थे और बुद्धदेव से भी टक्कर लेकर लौट आये थे। लेकिन कन्दर्प देवता हार माननेवाले जीव न थे। बार-बार हारने पर भी वह झुके नहीं। नये-नये अस्त्रों का प्रयोग करते रहे। अशोक शायद अन्तिम अस्त्र था। बौद्धधर्म को इस नये अस्त्र से उन्होंने घायल कर दिया, शैव मार्ग को अभिभूत कर दिया और शाक्त साधना को झुका दिया। वज्रयान इसका सबूत है, कौल साधना इसका प्रमाण है और कापालिक मत इसका गवाह है।

(रवीन्द्रनाथ ने भारतवर्ष को महामानव-समुद्र कहा है। विचित्र देश है यह! असुर आए, आर्य आए, शक आए हूण आए, नाग आए यक्ष आए गन्धर्व आए—न जाने कितनी जातियाँ आईं और आज के भारतवर्ष के बनाने में अपना हाथ लगा गईं। जिसे हम हिन्दू रीति-नीति कहते हैं वह अनेक आर्य और आर्येतर उपादानों का मिश्रण है। एक-एक पशु, एक-एक पक्षी न जाने कितनी स्मृतियों का सार लेकर हमारे सामने उपस्थित हैं। अशोक की भी अपनी स्मृति-परंपरा है। आम की भी है, बकुल की भी है, चम्पे की भी है। सब क्या हमें मालूम है? जितना मालूम है, उसी का अर्थ क्या स्पष्ट हो सका है? न जाने किस बुरे मुहूर्त में मनोजन्मा देवता ने शिव पर बाण फेंका था। शरीर जलकर राख हो गया और वामन पुराण (६ष्ठ अध्याय) की गवाही पर हमें मालूम है कि

उनका रत्नमय धनुष टूक-टूक होकर खण्ड-खण्ड धरती पर गिर गया। जहाँ मूठ थी वह स्थान रुक्ममणि से बना था, वह टूटकर धरती पर गिरा और चम्पे का फूल बन गया। हीरे का बना हुआ जो नाभि-स्थान था वह टूटकर गिरा और मौलसिरी के मनोहर पुष्पों में बदल गया! अच्छा ही हुआ। इन्द्रनील मणियों का बना हुआ कोटिदेश भी टूट गया और सुन्दर पाटल पुष्पों में परिवर्तित हो गया। यह भी बुरा नहीं हुआ। लेकिन सबसे सुन्दर बात यह हुई कि चन्द्रकान्त मणियों का बना हुआ मध्यदेश टूटकर चमेली बन गया और विद्रुम की बनी निम्नतर कोटि बेला बन गई। स्वर्ग को जीतनेवाला कठोर धनुष जो धरती पर गिरा तो कोमल फूलों में बदल गया। स्वर्गीय वस्तुएँ धरती से मिले बिना मनोहर नहीं होतीं!

परन्तु मैं दूसरी बात सोच रहा हूँ। इस कथा का क्या रहस्य है? यह क्या पुराणकार की कोमल कल्पना है या ये फूल भारतीय संसार में सचमुच गन्धर्वों की देन हैं? एक निश्चितकाल के पूर्व इन फूलों की चर्चा हमारे साहित्य में मिलती भी नहीं। सोम तो निश्चित रूप से गन्धर्वों से खरीदा जाता था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ की विधि में यह विधान सुरक्षित रह गया है। ये फूल क्या उन्हीं से मिले?

कुछ बातें तो मेरे मस्तिष्क में बिना सोचे ही उपस्थित हो रही हैं। कुबेर, सोम, अप्सराएँ—यद्यपि बाद के ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी स्वीकृत हैं तथापि पुराने साहित्य में ये अपदेवता के रूप में ही मिलते हैं। बौद्ध साहित्य में तो बुद्धदेव को ये कई बार बाधा देते हुए बताए गए हैं। महाभारत में ऐसी अनेक कथाएँ आती हैं जिनमें सन्तानार्थिनी स्त्रियाँ वृक्षों के अपदेवता यक्षों के पास सन्तानार्थिनी होकर जाया करती थीं! यक्ष और यक्षिणी साधारणतः विलासी और उर्वरताजनक देवता समझे जाते थे। कुबेर तो अक्षयनिधि के अधीश्वर भी हैं। यक्ष्मा नामक रोग के साथ भी इन लोगों का संबंध जोड़ा जाता है। भरहुत, बोध-

गया, साँचो आदि में उत्कीर्ण मूर्तियों में सन्तानार्थिनी स्त्रियों का यक्षों के सान्निध्य के लिए वृक्षों के पास जाना अंकित है। इन वृक्षों के पास अंकित मूर्त्तियों की स्त्रियाँ प्रायः नग्न हैं, केवल कटि देश में एक चौड़ी मेखला पहने हैं। अशोक इन वृक्षों में, सर्वाधिक रहस्यमय है। सुन्दरियों के चरण-ताड़न से उसमें दोहद का संचार होता है। और परवर्ती धर्म-ग्रंथों से यह भी पता चलता है कि चैत्र शुक्ल अष्टमी को व्रत करने और अशोक की आठ पंक्तियों के भक्षण से स्त्री की संतान-कामना फलवती होती है। अशोक-कल्प में बताया गया है कि अशोक के फूल दो प्रकार के होते हैं। सफेद और लाल। सफेद तो तांत्रिक क्रियाओं में सिद्धिप्रद समझकर व्यवहृत होता है और लाल स्मर-वर्द्धक होता है। इन सारी बातों का रहस्य क्या है? मेरा मन प्राचीन-काल के कुज्झटिकाछन्न आकाश में दूर तक उड़ना चाहता है। हाय, पंख कहाँ है?

यह मुझे बहुत प्राचीन युग की बात मालूम होती है। आर्यों का लिखा हुआ साहित्य ही हमारे पास बचा है। उसमें सब कुछ आर्य-दृष्टिकोण से ही देखा गया है। आर्यों से अनेक जातियों का संबंध हुआ। कुछ ने उनकी अधीनता नहीं मानीं, कुछ ज्यादा गर्वीली थीं। संघर्ष खूब हुआ। पुराणों में इसके प्रमाण हैं। यह इतनी पुरानी बात है कि सभी संघर्षकारी शक्तियाँ बाद में देवयोनि-जात मान ली गईं। पहला संघर्ष शायद असुरों से हुआ। यह बड़ी गर्वीली जाति थी। आर्यों का प्रभुत्व इसने नहीं माना। फिर दानवों, दैत्यों और राक्षसों से संघर्ष हुआ। गंधर्वों और यक्षों से कोई संघर्ष नहीं हुआ। वे शायद शांतिप्रिय जातियाँ थीं। भरहुत साँची, मथुरा आदि में प्राप्त यक्षिणी-मूर्त्तियों की गठन और बनावट देखने से स्पष्ट हो जाता है कि ये जातियाँ पहाड़ी थीं। हिमालय का प्रदेश ही गंधर्व, यक्ष और अप्सराओं की निवास-भूमि है। इनका समाज सम्भवतः उस स्तर पर था जिसे आजकल के पंडित 'पुनालुअन सोसाइटी' कहते हैं। शायद इससे भी अधिक

आदिम। परन्तु वे नाच-गान में कुशल थे। यक्ष तो धनी भी थे। वे लोग वानरों की भाँति कृषि-पूर्व-स्थिति में भी नहीं थे और राक्षसों और असुरों की भाँति व्यापार वाणिज्यवाली स्थिति में भी नहीं। वे मणियों और रत्नों का संधान जानते थे, पृथ्वी के नीचे गड़ी हुई निधियों की जानकारी रखते थे और अनायास धनी हो जाते थे। संभवतः इसी कारण उनमें विलासिता की मात्रा अधिक थी। परवर्त्ती काल में यह बहुत सुखी जाति मानी जाती थी। यक्ष और गन्धर्व एक ही श्रेणी के थे। परन्तु आर्थिक स्थिति दोनों की थोड़ी भिन्न थी। किस प्रकार कन्दर्प-देवता को अपनी गन्धर्व-सेना के साथ इन्द्र का मुसाहिब बनना पड़ा, वह मनोरंजक कथा है। पर यहाँ यह सब पुरानी बातें क्यों रटी जायँ? प्रकृत यह है कि बहुत पुराने जमाने में आर्य लोगों को अनेक जातियों से निबटना पड़ा था। जो गर्वीली थीं, हार मानने को प्रस्तुत नहीं थी, परवर्ती साहित्य में, उनका स्मरण घृणा के साथ किया गया और सहज ही मित्र बन गईं उनके प्रति अवज्ञा और उपेक्षा का भाव नहीं रहा। असुर, दानव, और दैत्य पहली श्रेणी में तथा यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध, विद्याधर वानर, भालु आदि दूसरी श्रेणी में आते हैं। परवर्ती हिन्दू समाज इनमें सबको बड़ी अद्भुत शक्तियों का आश्रय मानता है, सबमें देवता-बुद्धि का पोषण करता है।

अशोक वृक्ष की पूजा इन्हीं गन्धर्वों और यक्षों की देन है। प्राचीन साहित्य में इस वृक्ष की पूजा के उत्सवों का बड़ा सरस वर्णन मिलता है। असल पूजा अशोक की नहीं, वरन् उसके अधिष्ठाता कन्दर्प-देवता की होती थी। इसे 'मदनोत्सव' कहते थे। महाराज भोज के 'सरस्वती-कण्ठाभरण' से जान पड़ता है कि यह उत्सव त्रयोदशी के दिन होता था। 'मालविकाग्निमित्र' और 'रत्नावली' में बड़ा सरस-मनोहर वर्णन मिलता है। मैं जब अशोक के लाल स्तबकों को देखता हूँ तब मुझे वह पुराना वातावरण दिखाई दे जाता है। राज-घरानों में साधारणतः रानी ही

अपने सनूपुर चरणों के आघात से इस रहस्यमय वृक्ष को पुष्पित किया करतीं थीं। कभी-कभी रानी अपने स्थान पर किसी अन्य सुन्दरी को भी नियुक्त कर दिया करती थीं। कोमल हाथों में अशोक पल्लवों का कोमलतर गुच्छा आया, अलक्तक से रंजित नूपुरमय चरणों के मृदु आघात से अशोक का पाद-देश आहत हुआ—नीचे हलकी रुनझुन और ऊपर लाल फूलों का उल्लास! किसलयों और कुसुम-स्तवकों की मनोहर छाया के नीचे स्फटिक के आसन पर अपने प्रिय को बैठाकर सुन्दरियाँ अबीर, कुंकुम, चंदन और पुष्प-संभार से पहले कन्दर्प देवता की पूजा करती थीं और बाद में सुकुमार भंगिमा से पति के चरणों पर बसन्त-पुष्पों की अंजलि बखेर देती थीं। मैं सचमुच इस उत्सव को मादक मानता हूँ। अशोक के स्तवकों में वह मादकता आज भी है, पर कौन पूछता है? इन फूलों के साथ क्या मामूली स्मृति जुड़ी हुई है? भारतवर्ष का सुवर्णयुग इस पुष्प के प्रत्येक दल में लहरा रहा है।

कहते हैं दुनिया बड़ी भुलक्कड़ है। केवल उतना ही याद रखती है, जितने से उसका स्वार्थ सधता है। बाकी को फेंक कर आगे बढ़ जाती है। शायद अशोक से उसका स्वार्थ नहीं सधा। क्यों उसे वह याद रखती! सारा संसार स्वार्थ का अखाड़ा ही तो है!

अशोक का वृक्ष जितना भी मनोहर हो, जितना भी रहस्यमय हो, जितना भी अलंकारमय हो, परन्तु वह विशाल सामन्त-सभ्यता की परिष्कृत रुचि का ही प्रतीक है, जो साधारण प्रजा के परिश्रमों पर पली थी, उसके रक्त के स-सार कणों को खाकर बड़ी हुई थी, और लाखों-करोड़ों की उपेक्षा से समृद्ध हुई थी। वे सामन्त उखड़ गए, साम्राज्य ढह गए और मदनोत्सव की धूमधाम भी मिट गई। सन्तान-कामिनियों को गन्धर्वों से अधिक शक्तिशाली देवताओं का वरदान मिलने लगा—पीरों ने, भूत-भैरवों ने, काली दुर्गा ने यक्षों की इज्जत घटा दी। दुनिया अपने रास्ते चली गई, अशोक पीछे छूट गया!

मुझे मानव जाति की दुर्दम-निर्मम धारा के हजारों वर्ष का रूप साफ दिखाई दे रहा है। मनुष्य की जीवन-शक्ति बड़ी निर्मम है, वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है। न जाने कितने धर्माचारों, विश्वासों, उत्सवों और व्रतों को धोती-बहाती यह जीवन-धारा आगे बढ़ी है। संघर्षों से मनुष्यों ने नई शक्ति पाई है। हमारे सामने समाज का जो रूप है वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग की परिणति है। देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बात की बात है। सब कुछ में मिलावट है, सब कुछ अविशुद्ध है। शुद्ध है केवल मनुष्य की जिजीविषा (जीने की इच्छा)। वह गंगा की अबाधित अनाहत धारा के समान सब कुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है। सभ्यता और संस्कृति का मोह क्षण भर बाधा उपस्थित करता है, धर्माचार का संस्कार थोड़ी देर तक इस धारा से टक्कर लेता है, पर इस दुर्दम धारा में सब कुछ बह जाते हैं। जितना कुछ इस जीवन-शक्ति को समर्थ बनाता है। उतना उसका इसका अंग बन जाता है, बाकी इसके बाहर फेंक दिया जाता है। धन्य हो महाकाल, तुमने कितनी बार मदन देवता का गर्व खण्डन किया है, धर्मराज के कारागार में क्रान्ति मचाई है, यमराज के निर्दय तारल्य को पी लिया है, विधाता के सर्वकर्तृत्व के अभिमान को चूर्ण किया है ! आज हमारे भीतर जो मोह है, संस्कृति और कला के नाम पर जो आशक्ति है, धर्माचार और सत्यनिष्ठा के नाम पर जो जड़िमा है, उसमें कितना भाग तुम्हारे कुण्ठ-नृत्य से ध्वस्त हो जायगा कौन जानता है ! मनुष्य की जीवनधारा फिर अपनी मस्तानी चाल से चलती जायगी। आज अशोक के पुष्प-स्तावकों को देखकर मेरा मन उदास हो गया है, कल न जाने किस सहृदय के हृदय के कोने में उदासी की रेखा खेल उठेगी ! जिन बातों को मैं अत्यन्त मूल्यवान समझ रहा हूँ और उनके प्रचार के लिए चिल्लाकर गला सुखा रहा हूँ, उनमें कितनी जिएँगी, कितनी बह जायँगी, कौन जानता है ! मैं या शोक से

उदास हुआ हूँ ? माया काटे कटती नहीं। उस युग के साहित्य और शिल्प मन को मसलें दे रहे हैं। अशोक के फूल ही नहीं किसलय भी हृदय को कुदेर रहे हैं। कालिदास जैसे कलाकवि ने अशोक के पुष्पों को ही नहीं किसलयों को भी मदमत्त करनेवाला बताया था—अवश्य ही शर्त यह थी कि वह दयिता के कानों में झूम रहा हो—

किसलय प्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिताश्रवणार्पितः।

परन्तु शाखाओं में लंबित, वायुललित किसलयों में भी मादकता है। मेरी नस-नस में आज करुण उल्लास की झंझा उत्थित हो रही है। मैं सचमुच उदास हूँ।

आज जिसे हम बहुमूल्य संस्कृति मान रहे हैं, वह क्या ऐसी ही बनी रहेगी ? सम्राटों और सामन्तों ने जिस आचारनिष्ठा को इतना मोहक और मादक रूप दिया था, वह लुप्त हो गई, धर्मचारियों ने जिस ज्ञान-वैराग्य को इतना महार्घ समझा था, वह समाप्त हो गया, मध्ययुग के मुसलमान रईसों के अनुकरण पर जो रस-राशि उमड़ी थी, वह वाष्प की भाँति उड़ गई, तो क्या यह मध्य के कंकाल में लिखा व्यावसायिक युग का कमल ऐसा ही बना रहेगा ? महाकाल के प्रत्येक पदाघात से धरती खिसकेगी। उनके कुण्ठ नृत्य की प्रत्येक चारिका कुछ न कुछ लपेटकर ले जायगी, सब बदलेगा, सब विकृत होगा—सब नवीन बनेगा।

भगवान् बुद्ध ने मार-विजय के बाद वैरागियों की पलटन खड़ी की थी। असल में 'मार' मदन का ही नामान्तर है। कैसा मधुर और मोहक साहित्य उन्होंने दिया। पर न जाने कब यक्षों के वज्रपाणि-नामक देवता इस वैराग्य प्रवण धर्म में घुसे और बोधिसत्वों के शिरोमणि बन गए। फिर वज्रयान का अपूर्व धर्ममार्ग प्रचलित हुआ। त्रिरत्नों में मदन-देवता ने आसन पाया। वह एक आँधी थी। इसमें बौद्ध बह गए, शैव बह गए, शाक्त बह गए। काव्य और शिल्प के मोहक अशोक ने अभिचार में सहायता दी। मैं अचरज से इस योग और भोग की मिलन लीला को देख

रहा हूँ। यह भी क्या जीवन-शक्ति का दुर्दम अभियान था। कौन बता-येगा कि कितने विध्वंस के बाद इस अपूर्व धर्ममत की सृष्टि हुई थी। अशोक-स्तवक का हर फूल और हर दल इस विचित्र परिणति की परम्परा ढोए आ रहा है। कैसा झबरा-सा गुल्म है।

मगर उदास होना भी बेकाम ही है। अशोक आज भी उसी मौज में है जिसमें आज से दो हजार वर्ष पहले था। कहीं भी तो कुछ नहीं बिगड़ा है, कुछ नहीं बदला है। बदली है मनुष्य की मनोवृत्ति! यदि बदले बिना वह आगे बढ़ सकती तो शायद वह भी नहीं बदलती। और यदि वह न बदलती और व्यावसायिक संघर्ष आरम्भ हो जाता—मशीन का रथ-घर्घर चल पड़ता—विज्ञान का सवेग धावन चल निकलता तो बड़ा बुरा होता। हम पिस जाते। अच्छा ही हुआ जो वह बदल गई। पूरी कहाँ बदली है? पर बदल तो रही है। अशोक का फूल तो उसी मस्ती से हँस रहा है। पुराने चित्त से इसे देखने वाला उदास होता है। वह अपने को पंडित समझता है पंडिताई भी एक बोझ है। जितनी भारी होती है, उतनी ही तेजी से डुबाती है। जब वह जीवन का अंग बन जाती है तो सहज हो जाती हैं। तब वह बोझ नहीं रहती। उस अवस्था में उदास भी नहीं रहा करती। कहाँ? अशोक का कुछ भी तो नहीं बिगड़ा है! कितनी मस्ती से झूम रहा है। कालिदास इसका रस ले सके थे—अपने ढंग से! मैं भी ले सकता हूँ, पर अपने ढंग से। उदास होना बेकार है!

—

ईर्ष्या

रामचन्द्र शुक्ल

जैसे दूसरे के दुःख को देख दुःख होता है वैसे ही दूसरे के सुख या भलाई को देखकर भी एक प्रकार का दुःख होता है जिसे ईर्ष्या कहते हैं। ईर्ष्या की उत्पत्ति कई भावों के संयोग से होती है, इससे इसका प्रादुर्भाव बच्चों में कुछ देर में देखा जाता है और पशुओं में तो शायद होता ही न हो। ईर्ष्या एक संकर भाव है जिसकी संप्राप्ति आलस्य, अभिमान और नैराश्य के योग से होती है। जब दो बच्चे किसी खिलौने के लिए झगड़ते हैं, तब कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि एक ऐसे खिलौने को लेकर फोड़ देता है जिससे वह किसी के काम में नहीं आता। इससे अनुमान हो सकता है कि उस लड़के के मन में यही रहता है कि चाहे वह खिलोना मुझे मिले या न मिले, दूसरे के काम में न आए, अर्थात् उसकी स्थिति मुझसे अच्छी न रहे। ईर्ष्या पहले-पहल इसी रूप में व्यक्त होती है।

ईर्ष्या प्राप्ति की उत्तेजित इच्छा नहीं है। यदि एक के पास कोई वस्तु है और दूसरे के पास नहीं है तो वह दूसरा व्यक्ति इस बात के लिए तीन प्रकार के दुःख प्रकट कर सकता है—

१—क्या कहें हमारे पास भी वह वस्तु होती।

२—हाय वह वस्तु उसके पास न होकर हमारे पास होती तो अच्छा था।

३ – वह वस्तु किसी प्रकार उसके हाथ से निकल जाती, चाहे जहाँ जाती।

इन तीनों वाक्यों को ध्यानपूर्वक देखने से जान पड़ेगा कि इनमें दूसरे व्यक्ति की ओर जो लक्ष्य है, क्रमशः विशेषत्व प्राप्त होता गया है और वस्तु की ओर जो लक्ष्य है, वह कम होता गया है। पहले वाक्य से जो भाव झलकता है वह ईर्ष्या नहीं है, साधारण स्पर्द्धा अर्थात् लाभ की उत्तेजित इच्छा का एक अच्छा रूप है। उसमें वस्तु की ओर लक्ष्य है, व्यक्ति की ओर नहीं। ईर्ष्या व्यक्तिगत होती है और स्पर्द्धा वस्तुगत। दूसरे वाक्य में ईर्ष्या कुछ, और तीसरे में पूरा आभास है। इन दोनों में से एक (दूसरे) में दूसरे से वञ्चित न रख सकने का दुःख गौण और दूसरे (तीसरे) में प्रधान या एकान्त है।

स्पर्द्धा में किसी सुख, ऐश्वर्य, गुण या मान से किसी व्यक्ति-विशेष को सम्पन्न देख अपनी त्रुटि पर दुःख होता है, फिर प्राप्ति की एक प्रकार की उद्वेगपूर्ण इच्छा उत्पन्न होती है, या यदि इच्छा पहले से होती है तो उस इच्छा की उत्तेजना मिलती है। इस प्रकार की वेगपूर्ण इच्छा या इच्छा की उत्तेजना अन्तःकरण की उन प्रेरणाओं में से है जो मनुष्य को अपने उन्नति-साधन में तत्पर करती है। इसे कोई संसार को सच्चा समझने वाला बुरा नहीं कह सकता। यह उत्तेजना ऐश्वर्य, गुण या मान के किसी चित्ताकर्षक रूप या प्रभाव के साक्षात्कार से उत्पन्न होती है और कभी-कभी उस ऐश्वर्य, गुण या मान को धारण करनेवाले की पूर्वस्थिति के परिज्ञान से बहुत बढ़ जाती है। किसी अपने पड़ोसी या मित्र की विद्या का चमत्कार या आदर देख विद्या प्राप्ति की इच्छा उत्तेजित होती है और यह जानकर कि पहले वह एक बहुत साधारण बुद्धि या वित्त का मनुष्य था, यह उत्तेजित आशा-प्रेरित होकर और भी बढ़ जाती है। प्राप्ति की इस उत्तेजित इच्छा के लिए सम्पन्न व्यक्ति ऐसा मूर्तिमान और प्रत्यक्ष आधार हो जाता है जिससे अपनी उन्नति या सम्पन्नता की भी आशा बँधती है

और कार्यक्रम की शिक्षा मिलती है। किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छावाले को, किसी ऐसे व्यक्ति को देख, जिसने अपने पुरुषार्थ से वह वस्तु प्राप्त की हो, कभी-कभी बड़ा सहारा हो जाता है और वह सोचता है कि जब उस मनुष्य ने उस वस्तु को प्राप्त कर लिया तब क्या मैं भी नहीं कर सकता ? ऐसे सम्पन्न व्यक्ति की ओर जो इच्छुक या स्पर्द्धावान् का बार-बार ध्यान जाता है वह उसकी स्थिति में किसी प्रकार का परिवर्तन करने के लिए नहीं, बल्कि अपनी स्थिति में परिवर्तन करने के लिए। स्पर्द्धा में अपनी कमी या त्रुटि पर दुःख होता है, दूसरे की सम्पन्नता पर नहीं। स्पर्द्धा में दुःख का विषय होता है "मैंने उन्नति क्यों नहीं की" ? और ईर्ष्या में दुःख का विषय होता है "उसने उन्नति क्यों की ?" स्पर्द्धा संसार में गुणी, प्रतिष्ठित और सुखी लोगों की संख्या में कुछ बढ़ती करना चाहती है और ईर्ष्या कमी।

ऊपर के विवरण से यह बात झलक गई होगी कि ईर्ष्या एक अनावश्यक विकार है, इससे उसकी गणना मूल मनोविकारों में नहीं हो सकती। यह यथार्थ में कई भावों के विचित्र मिश्रण से संघटित एक विष है। जब किसी विषय में अपनी स्थिति को रक्षित रख सकने या समुन्नत कर सकने के निश्चय में अयोग्यता या आलस्य आदि के कारण कुछ कसर रहती है तभी इस इच्छा का उदय होता है कि किसी व्यक्ति-विशेष की स्थिति उस विषय में हमारे तुल्य या हमसे बढ़कर न होने पाए। यही इच्छा बढ़कर द्वेष में परिवर्तित हो जाती है और तब दूसरे व्यक्ति का अनिष्ट, न केवल उसी विषय में बल्कि प्रत्येक विषय में, वांछित हो जाता है। वैर और द्वेष में अन्तर यह है कि वैर अपनी किसी वास्तविक हानि के प्रतिकार में होता है पर द्वेष अपनी किसी हानि के कारण या लाभ की आशा से नहीं किया जाता।

यह बात ध्यान देने की है कि ईर्ष्या व्यक्ति विशेष से होती है। यह नहीं होता कि जिस किसी को ऐश्वर्य, गुण या मान से सम्पन्न देखा, उसी से ईर्ष्या हो गई। ईर्ष्या उन्हीं से होती है जिनके विषय में यह धारणा

होती है कि लोगों की दृष्टि हमारे साथ-साथ उन पर भी अवश्य पड़ेगी, या पड़ती होगी। अपने से दूरस्थ होने के कारण अपने साथ-साथ जिनपर लोगों का ध्यान जाने का निश्चय नहीं होता उनके प्रति ईर्ष्या नहीं उत्पन्न होती। काशी में रहनेवाले किसी धनी को अमेरिका के किसी धनी की बात सुनकर ईर्ष्या नहीं होगी। हिन्दी के किसी कवि को इटली के किसी कवि का महत्त्व सुनकर ईर्ष्या नहीं होगी। सम्बन्धियों, बाल-सखाओं, सहपाठियों और पड़ोसियों के बीच ईर्ष्या का विकास अधिक देखा जाता है। लड़कपन से जो आदमी एक साथ उठते-बैठते देखे गए हैं उन्हीं में से कोई एक दूसरे की बढ़ती से जलता हुआ भी पाया गया है। यदि दो साथियों में से कोई किसी अच्छे पद पर पहुँच गया तो वह इस उद्योग में देखा जाता है कि दूसरे किसी अच्छे पद पर न पहुँचने पाएँ। प्रायः अपनी उन्नति के गुप्त बाधकों का पता लगाते-लगाते लोग अपने किसी बड़े पुराने मित्र तक पहुँच जाते हैं। जिस समय संसर्ग-सूत्र में बांधकर हम औरों को अपने साथ एक पंक्ति में खड़ा करते हैं उस समय सहानुभूति, सहायता आदि की सम्भावना प्रतिष्ठित होने के साथ ही साथ ईर्ष्या और द्वेष की सम्भावना की नींव भी पड़ जाती है। अपने किसी विधान से हम भलाई ही भलाई की सम्भावना का सूत्रपात करें और इस प्रकार भविष्य के अनिश्चय में बाधा डालें, यह कभी हो ही नहीं सकता। भविष्य की अनिश्चयात्मकता अटल और अजेय है। अपनी लाख विद्या-बुद्धि से भी हम उसे बिलकुल हटा नहीं सकते।

अब ध्यान देने की बात यह निकली कि ईर्ष्या के संचार के लिए ईर्ष्या करनेवाले और ईर्ष्या के पात्र के अतिरिक्त स्थिति पर ध्यान देनेवाले समाज की भी आवश्यकता है। इसी समाज की धारणा पर प्रभाव डालने के लिए ही ईर्ष्या की जाती है, ऐश्वर्य्य, गुण या मान का गुप्त रूप से, बिना किसी समुदाय को विदित कराए, सुख या सन्तोष भोगने के लिए नहीं। ऐश्वर्य्य या गुण में हम चाहे किसी व्यक्ति से वस्तुतः बढ़कर या उसके तुल्य न हों, पर यदि समाज की यह धारणा है कि हम उससे बढ़कर या

उसके तुल्य हैं तो हम सन्तुष्ट रहेंगे, ईर्ष्या का घोर कष्ट न उठाने जायँगे। कैसी अनोखी बात है कि वस्तु-प्राप्ति से वंचित रहकर भी हम समाज की धारणामात्र से सन्तुष्ट रहते हैं।

ईर्ष्या सामाजिक जीवन की कृत्रिमता से उत्पन्न एक विष है। इसके प्रभाव से हम दूसरे की बढ़ती से अपनी कोई वास्तविक हानि न देखकर भी व्यर्थ दुखी होते हैं। समाज के संघर्ष से जो अवास्तविकता उत्पन्न होती है वह हम पर प्रभाव डालने में वास्तविकता से कम नहीं। वह हमें सुखी कर सकती है, दुःखी भी। फारसी मसल है—सर्गे अम्बोह जश्ने दारद। हम किसी कष्ट में हैं, इसी बीच में कोई दूसरा व्यक्ति हमसे अपना भी वही कष्ट वर्णन करने लगता है तो हमारे मुँह पर कुछ हँसी आ जाती है और हम कुछ आनन्दित होकर कहते हैं "भाई! हम भी तो इसी बला में गिरफ्तार हैं।" यदि दस पाँच आदमी कहीं कष्ट बतलाने वाले मिलें तो हमारी हँसी कुछ बढ़ भी जाती है। एक बार किसी ने अपने सम्बन्धी के मरने पर एक विद्वान् से पूछा कि "हम धैर्य कैसे धारण करें?" उसने कहा कि "थोड़ी देर के लिए सोचो कि इसी संसार में लाखों अनाथ इधर-उधर ठोकर खा रहे हैं, लाखों बच्चे बिना माँ-बाप के रो रहे हैं, लाखों विधवाएँ आँसू बहा रही हैं।" यदि हमें कोई कष्ट है तो क्या दूसरों को भी उसी कष्ट में देखकर थोड़ी देर के लिए हमारा वह कष्ट सचमुच कुछ घट जाता है? यदि नहीं घटता है तो यह हँसी कैसी, यह धैर्य्य कैसा? यह हँसी केवल स्थिति के मिलान पर निर्भर है, जिससे अपनी स्थिति के विशेषत्व का परिहार होता है। यह लोक संचय का एक गुण है कि कभी-कभी स्थिति के बने रहने पर भी उसके विशेषत्व के परिहार से तत्सम्बन्धी भावना में अन्तर पड़ जाता है। पर यह अन्त ऐसा ही है जैसा रोते-रोते सो जाना या पीड़ा से चिल्लाते समय क्लोरोफार्म सूँघ लेना।

समाज में पड़ते ही मनुष्य देखने लगता है कि उसकी स्थिति दोहरी हो गई है। वह देखता है कि "मैं यह हूँ" और "मैं यह समझा जाता

हूँ" । इस दोहरेपन से उसका सुख भी दोहरा हो जाता है और दुःख भी। 'मैं बड़ा हूँ' इस निश्चय के साथ एक यह निश्चय और जुड़ जाने से कि "मैं बड़ा समझा जाता हूँ" मनुष्य के आनन्द या सुख के अनुभव में वृद्धि होती है। इसी प्रकार "मैं क्षुद्र हूँ" इस धारणा के साथ "मैं क्षुद्र समझा जाता हूँ" इस धारणा के योग से दुःख के अनुभव की वृद्धि होती है। इस प्रकार स्थिति के एकान्त और सामाजिक दो विभाग हो जाने से कोई तो दोनों विभागों पर दृष्टि रख सकते हैं और कोई एक ही पर। शक्तिशाली और प्रतिभा सम्पन्न मनुष्य पहले यह प्रयत्न करते हैं कि "हम ऐसे हों।" फिर वैसे हो जाने पर यदि आवश्यक हुआ तो वे यह प्रयत्न करते हैं कि "हम ऐसे समझे जायँ।" इन दोनों के प्रयत्न जुदे-जुदे हैं। संसार में शक्ति सम्पन्न सब नहीं होते, इससे बहुत से लोग स्थिति के पहले विभाग के लिए जिन प्रयत्नों की आवश्यकता है उनमें अपने को असमर्थ देख दूसरे ही विभाग से किसी प्रकार अपना सन्तोष करना चाहते हैं और उसी पर दृष्टि रखकर प्रयत्न करते हैं। ईर्ष्या ऐसे लोगों के हृदय में बहुत जगह पाती है और उसके प्रयत्नों में सहायक भी होती है। भाव-प्रवर्तन आदि के बल से जिस समुदाय के प्राणी परस्पर ऐसे सन गए हैं कि अपने इन्द्रियानुभव और भावनाओं तक को जवाब देकर दूसरों के इन्द्रियानुभव और भावनाओं द्वारा निर्वाह कर सकते हैं, उसी में ईर्ष्या का विकास हो सकता है। अतः ईर्ष्या का अनन्य अधिकार मनुष्य-जाति ही पर है। एक कुत्ता किसी दूसरे कुत्ते को कुछ खाते देख उसे आप खाने की इच्छा कर सकता है, पर वह यह नहीं चाह सकता कि चाहे हम खायँ या न खायँ वह दूसरा कुत्ता न खाने पाए। दूसरे कुत्तों की दृष्टि में हमारी स्थिति वैसी है, इसकी चिन्ता उस कुत्ते को न होगी।

अपने विषय में दूसरों के चित्त में अच्छी धारणा उत्पन्न करने का प्रयत्न अच्छी बात है। इस प्रयत्न को जो बुरा रूप प्राप्त होता है वह असत्य के समावेश के कारण—दूसरों की धारणा की अवास्तविकता और

अपनी स्थिति की सापेक्षता के कारण। जब हम अपने विषय में दूसरों की झूठी धारणा और अपनी स्थिति के सापेक्ष रूपमात्र से सन्तोष करना चाहते हैं तभी बुराइयों के लिए जगह होती है और ईर्ष्या की राह खुलती है। जैसी स्थिति हमारी नहीं है, जैसी स्थिति प्राप्त करने की योग्यता हममें नहीं है, हम चाहते हैं कि लोग हमारी वैसी स्थिति समझें। जैसी स्थिति से वास्तव में हमें कोई सुख नहीं है वैसी स्थिति किसी दूसरे के समान या दूसरे से अच्छी स्वयं समझने से नहीं बल्कि दूसरों के द्वारा समझी जाने से ही हम संतोष करते हैं। ऐसे असत्य आरोपों के बीच यदि ईर्ष्या ऐसी असार वृत्ति का उदय हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

ऊपर जो कुछ कहा गया उससे शायद यह धारणा हो सकती है कि ईर्ष्या अप्राप्त वस्तु ही के लिए होती है। पर यह बात नहीं है। हमारे पास जो वस्तु है उसे भी दूसरे के पास देखकर कभी-कभी हमें बुरा लगता है, हम दुखी होते हैं। किसी गरीब पड़ोसी को क्रमशः धनी होते देख आसपास में धनी माना जानेवाला मनुष्य कभी-कभी बुरा मानने लगता है। एक ऊँची जाति का आदमी किसी नीच जाति के आदमी को अपने ही समान वस्त्र आदि पहने देख बुरा मानता और कुढ़ता है। इसका कारण यह स्थायी बुद्धि या अहंकार है कि "हम ऊँचे हैं, वह नीचा है, हम बड़े हैं, वह छोटा है।" लोक-व्यवस्था के भीतर कुछ विशेष वर्ग के लोग, जैसे शिष्ट, विद्वान्, धर्म-चिन्तक, शासन-कार्य्य पर नियुक्त अधिकारी, देश रक्षा में प्राण देने को तैयार वीर इत्यादि औरों से अधिक आदर और सम्मान के पात्र होते हैं। इनके प्रति उचित सम्मान न प्रदर्शित करना अपराध है। अन्य वर्ग के लोग लोक-धर्मानुसार इन्हें बड़ा मानने को विवश हैं। पर इन्हें दूसरों को छोटा प्रकट करने, क्या मानने तक का अधिकार नहीं है। जहाँ इन्होंने ऐसा किया कि सम्मान का स्वत्व खोया।

न्यायाधीश न्याय करता है, कारीगर ईंटें जोड़ता है। समाज-कल्याण के विचार से न्यायाधीश का साधारण व्यवहार में कारीगर के प्रति यह

प्रकट करना उचित नहीं कि तुम हमसे छोटे हो। जिस जाति में इस छोटाई बड़ाई का अभिमान जगह-जगह जम कर दृढ़ हो जाता है उसके भिन्न-भिन्न वर्गों के बीच स्थायी ईर्ष्या स्थापित हो जाती है और संघ-शक्ति का विकास बहुत कम अवसरों पर देखा जाता है। यदि समाज में उन कार्यों को, जिनके द्वारा भिन्न-भिन्न प्राणी जीवन-निर्वाह करते हैं, परस्पर छोटाई-बड़ाई का ढिंढोरा न पीटा जाय, बल्कि उनकी विभिन्नता ही स्वीकार की जाय, तो बहुत-सा असंतोष दूर हो जाय, राजनीति स्वत्व की आकांक्षा से स्त्रियों को पुरुषों की हद में न जाना पड़े, सब पढ़े-लिखे आदमियों को सरकारी नौकरियों के ही पीछे न दौड़ना पड़े। जहाँ इस छोटाई-बड़ाई का भाव बहुत प्रचार पा जाता है और जीवन-व्यवहारों में निर्दिष्ट और स्पष्ट रूपों में दिखाई पड़ता है, वहाँ लोगों की शक्तियाँ केवल कुछ विशेष-विशेष स्थलों की ओर प्रवृत्त होकर उन-उन स्थानों पर इकट्ठी होने लगती हैं और समाज के कर्तव्य विभागों में विषमता आ जाती है अर्थात् कुछ सूने पड़ जाते हैं और कुछ आवश्यकता से अधिक भर जाते हैं, जैसा कि आजकल इस देश में देखा जा रहा है। यहाँ कृषि, विज्ञान, शिल्प, वाणिज्य आदि की ओर तब तक पढ़े-लिखे लोग ध्यान न देंगे जब तक कुछ पेशों और नौकरियों की शान लोगों की नजरों में समाई रहेगी। इस प्रकार की शान प्रायः किसी शक्ति के अनुचित प्रयोग में अधिक समझी जाती है। कोई पुलिस का कर्मचारी जब अपने पद का अभिमान प्रकट करता है तब यह नहीं कहता कि मैं जिस बदमाश को चाहूँ पकड़ कर तंग कर सकता हूँ; बल्कि यह कहता है कि "मैं जिसको चाहूँ उसको पकड़-कर तंग कर सकता हूँ।"

अधिकार सम्बन्धी अभिमान अनौचित्य की सामर्थ्य का अधिक होता है यदि अधिकार के अनुचित उपयोग की संभावना दूर कर दी जाय तो स्थान-स्थान पर अभिमान की जमी हुई मैल साफ हो जाय और समाज के कार्य्य-विभाग चमक जायँ। यदि समाज इस बात की पूरी चौकसी

रक्खे कि पुलिस के अफसर उन्हीं लोगों को कष्ट दे सकें जो दोषी हैं, माल के अफसर उन्हीं लोगों को क्षतिग्रस्त कर सकें जो कुछ गड़बड़ करते हैं, तो उन्हें शेष लोगों पर जो निर्दोष हैं, जिनका मामला साफ है और जिनसे हर घड़ी काम पड़ता है, अभिमान प्रकट करने का अवसर कहाँ मिल सकता है ? जब तक किसी कार्य्यालय में छोटे से बड़े तक सब अपना अपना नियमित कार्य्य ठीक-ठीक करते हैं तब तक एक के लिए दूसरे पर अपनी बड़ाई प्रकट करने का अवसर नहीं आता है। पर जब कोई अपने कार्य में त्रुटि करता है तब उसका अफसर उसे दण्ड देकर अपनी बड़ाई या अधिक सामर्थ्य दिखाता है। सापेक्ष बड़ाई दूसरे को क्षति ग्रस्त करने और दूसरे को नम्र करने के सामर्थ्य का नाम है। अधिकार की सापेक्ष बड़ाई दूसरे को नम्र करने का सामर्थ्य है। इससे विदित हुआ कि यह छोटाई-बड़ाई हर समय तमाशा दिखाने के लिए नहीं है, बल्कि अवसर पड़ने पर संशोधन या शिक्षा के लिए है। किसी अवध के तअल्लुकेदार के लिए बड़ाई का यह स्वांग दिखाना आवश्यक नहीं है कि वह जब मन में आए तब कामदार टोपी सिर पर रख, हाथी पर चढ़ गरीबों को पिटवाता चले। किसी देहाती थानेदार के लिए यह जरूरी नहीं है कि वह सिर पर लाल पगड़ी रख गँवारों को गाली देकर हर समय अपनी बड़ाई का अनुभव करता और कराता रहे। अभिमान एक व्यक्तिगत गुण है, उसे समाज के भिन्न-भिन्न व्यवसायों के साथ जोड़ना ठीक नहीं। समाज में स्थान-स्थान पर अभिमान के अजायबघर स्थापित होना अच्छा नहीं। इस बात का ध्यान रखना समाज का कर्तव्य है कि धर्म और राजबल से प्रतिष्ठित संस्थाओं के अन्तर्गत अभिमानालय और खुशामदखाने न खुलने पाएँ।

इसी प्रकार किसी बड़े धनी या गुणी का यह हर घड़ी का एक काम न हो जाना चाहिए कि वह औरों के धन या गुण से अपने धन या गुण का मिलान किया करे और अपने से कम धनी या गुणी लोगों से अपनी श्रेष्ठता देख-दिखाकर सन्तोष किया करे। इस प्रकार सन्तोष करना वस्तु

को छोड़ छाया पर सन्तोष करना है। इस प्रकार के सन्तोष का सुख मनुष्य के लिए स्वाभाविक है, पर वह ऐसे ही अवसरों तक के लिए निर्दिष्ट है जब किसी त्रुटि का संशोधन हो, कठिनता का निराकरण हो या आवश्यकता की पूर्ति हो। उसे ऐसे अवसरों के अतिरिक्त और अवसरों में घसीटना बुराई है। कई आदमी किसी रास्ते के पत्थर को हटाने में लगे हैं और वह नहीं हिलता है। एक दूसरा आदमी आकर अकेले उस पत्थर को हटाकर फेंक देता है। उस समय उसे अपने को बल में औरों से बढ़कर देख सन्तोष और आनन्द होगा और शेष लोग भी उसके कृत्य से प्रभावित रहने के कारण उस समय उसके इस सापेक्ष आनन्द या आनंद-प्रदर्शन से कुढ़ेंगे नहीं, बल्कि कुतूहल-युक्त होंगे और शायद कुछ शिक्षा भी ग्रहण करेंगे। पर यदि उसे इस बड़ाई के आनन्द का चसका लग जायगा और वह हर घड़ी इसका अनुभव करना चाहेगा, उसे प्रकट किया करेगा तो वह एक प्रकार का दुर्व्यसन हो जायगा और अहंकार के नाम से पुकारा जायगा।

जिस किसी के चित्त में इस प्रकार अहंकार घर करेगा उसमें अपने चारों ओर अपने से घटकर धन, मान, गुण या बल देखने की स्थायी इच्छा स्थापित हो जायगी और जो वस्तु उसे प्राप्त है उसे भी दूसरों को प्राप्त करते देख उसे कुढ़न या ईर्ष्या होगी। उनके अहंकार से आहत होकर दूसरे लोग भी उसकी उन्नति न देखना चाहेंगे और उससे एक प्रकार की उचित ईर्ष्या रक्खेंगे, इस प्रकार ईर्ष्या की अच्छी खेती होगी। सारांश यह कि अभिमान हर घड़ी बड़ाई की भावना भोगने का दुर्व्यसन है और ईर्ष्या उसकी सहगामिनी है। इस बड़ाई के अनुभव को भोगने का जिसे दुर्व्यसन हो जाता है उसके लिए उन्नति का द्वार बन्द-सा हो जाता है। उसे हर घड़ी अपनी बड़ाई का अनुभव करते रहने का नशा हो जाता है, इससे उसकी चाट के लिए वह सदा अपने से घटकर लोगों की ओर दृष्टि डाला करता है और अपने से बड़े लोगों की ओर नशा मिट्टी होने के भय से देखने का साहस नहीं करता। ऐसी अवस्था में वह उन्नति की उत्तेजना और

शिक्षा से वंचित रहता है। इसी से अभिमान को मद भी कहते हैं। दुर्व्यसन किसी प्रकार का हो, मद है।

यह तो कहा ही जा चुका है कि ईर्ष्या दूसरे की असंपन्नता की इच्छा की अपूर्ति से उत्पन्न होती है। ऐसी इच्छा यदि किसी हानि के बदले में अथवा हानि की आशंका से हो तो वह शुद्ध ईर्ष्या नहीं है। किसी दूसरे से हानि उठाकर उसकी हानि की आकांक्षा करना, केवल बुराई का बुराई से जवाब देना है और क्रोध या वैर के अन्तर्गत है। इसी प्रकार यदि किसी की संपन्नता से हमें क्लेश या हानि की आशंका है और हम उसकी ऐसी सम्पन्नता की अनिच्छा या उसका दुःख करते हैं तो केवल अपना बचाव करते हैं—आजकल के शब्दों में अपनी रक्षा के स्वत्व का उपयोग करते हैं। यदि हम किसी अन्यायी को कोई अधिकार पाते देख कुढ़ते हैं तो केवल अपने या समाज के बचाव की फिक्र करते हैं, ईर्ष्या नहीं करते। यदि हमें निश्चय है कि हमारा कोई मित्र इतना घमंडी है कि यदि उसे किसी वस्तु की प्राप्ति होगी तो वह हमसे ऐंठ दिखाकर हमारा अपमान करेगा, तो हमारा यह चाहना कि वह मित्र वह वस्तु न पाए अथवा इस बात पर दुःखी होना कि वह मित्र वह वस्तु पा गया, ईर्ष्या नहीं, बचाव की चिन्ता है। इसी से अभिमानियों से ईर्ष्या करने का अधिकार मनुष्यमात्र को है। लोग इस अधिकार का उपयोग भी खूब करते हैं। क्या राजनीति में, क्या साहित्य में, क्या व्यवहार में, मानव जीवन के सब विभागों में इस अधिकार का उपयोग होते देखा जाता है। ऐसा देखा गया है कि अच्छे से अच्छे लेखकों के गुणों पर उनके अभिमान से आहत लोगों के प्रयत्न या उदासीनता से बहुत दिनों तक परदा पड़ा रहा है और वे जिन्दगी भर भवभूति के इस वाक्य पर सन्तोष किए बैठे रहे हैं—

> "उत्पत्स्यते हि मम कोऽपि समानधर्म्मा
> कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।"

अभिमान-ग्रस्त के गुण को लोग देखकर भी नहीं देखते हैं। अभिमानी स्वयं अन्धा होकर दूसरों की आँखें भी फोड़ता है। न उसे दूसरों के उत्कृष्ट गुण की ओर ताकने का साहस होता है और न दूसरों को उसके गुण को स्वीकार करने की उत्कंठा होती है। अभिमान दोनों ओर ज्ञान का निषेध करता है। अतः जिस प्रकार अभिमान न करना श्रेष्ठ गुण है, उसी प्रकार दूसरे के अभिमान को देख क्षुब्ध न होना भी श्रेष्ठ गुण है।

अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि ईर्ष्या दूसरे की प्राप्ति या प्राप्ति की सम्भावना में उत्पन्न दुःख है, चाहे वह वस्तु हमें प्राप्त हो या न हो। अत ईर्ष्या धारण करनेवाले के दो रूप होते हैं, एक असंपन्न और दूसरा संपन्न। असंपन्न रूप वह है जिसमें ईर्ष्या करनेवाला दूसरे को ऐसी वस्तु प्राप्त करते देख दु:खी होता है जो उसके पास नहीं है। ऐसे दुःख में आलस्य या असामर्थ्य से उत्पन्न नैराश्य, दूसरे की प्राप्ति से अपनी सापेक्षिक छोटाई का बोध, दूसरे की असंपन्नता की इच्छा, और अन्त में इस इच्छा की पूर्ति में बाधक उस दूसरे व्यक्ति पर एक प्रकार का मीठा क्रोध, इतने भावों का मेल रहता है। किसी वस्तु को हम नहीं प्राप्त कर सकते। दूसरा उसी को प्राप्त करता है। हम समझते हैं कि लोगों की दृष्टि जब हमारी स्थिति पर पड़ती होगी तब उसकी स्थिति पर भी पड़ती होगी। इससे लोगों की दृष्टि में हमारी स्थिति अवश्य कुछ न्यून जँचती होगी। अतः स्थिति की समानता के लिए हम चाहते हैं कि वह दूसरा व्यक्ति उस वस्तु को न प्राप्त करता या खो देता। पर वह दूसरा व्यक्ति जीता-जागता यत्नवान् प्राणी होने के कारण उसे प्राप्त करता या रक्षित रखता है। इससे हमारी इच्छापूर्ति में बाधा होती है और हम बाधक के ऊपर मन ही मन चिड़चिड़ाते हैं।

ईर्ष्या में क्रोध का भाव किस प्रकार मिलता रहता है, इसका प्रमाण बराबर मिलता रहता है दूसरे व्यक्ति को किसी वस्तु से संपन्न देख यदि कोई उससे ईर्ष्या करता है तो केवल यही नहीं होता कि वह उसी वस्तु

को उससे अलग करके या अलग करने का प्रयत्न करके संतोष कर ले, बल्कि वह उस सम्पन्न व्यक्ति को अवसर पाने पर, बिना किसी अन्य कारण के, कुवाक्य भी कह बैठता है। जी दुखाने का प्रयत्न बिना किसी प्रकार के क्रोध के नहीं हो सकता। इसी कारण जैसे क्रोध से जलना कहा जाता है वैसे ही ईर्ष्या से जलना भी कहा जाता है। साहित्य के शब्दों में, क्रोध ईर्ष्या के संचारों के रूप में समय-समय पर व्यक्त होता हुआ देखा जाता है।

अब यहाँ पर लगे हाथों यह भी देख लेना चाहिए कि यह क्रोध है किस प्रकार का। यह क्रोध बिल्कुल जड़ क्रोध है। जिसके प्रति ऐसा क्रोध किया जाता है उसके मानसिक उद्देश्य की ओर नहीं ध्यान दिया जाता। यदि हम असावधानी से दौड़ते समय किसी सोए आदमी से टकराकर उस पर बिगड़ने लगें, या रास्ते की ठोकर खाकर उसे चूर-चूर करने पर उतारू हों, तो हमारा यह क्रोध जड़ क्रोध होगा, क्योंकि हमने यह विचार नहीं किया कि क्या वह आदमी हमें ठोकर खिलाने के लिए ही सोया था, या वह पत्थर हमारे पैर में लगने के ही नामाकूल इरादे से वहाँ आ पड़ा था। यदि हमारे पास कोई वस्तु नहीं है और दूसरा उसे प्राप्त करता है तो वह इस उद्देश्य से नहीं प्राप्त करता कि उससे हम अपनी हेठी समझकर दुखी हों और हमारी इच्छापूर्ति में बाधा पड़े। यह दूसरी बात है कि पीछे से यह मालूम करके भी उसकी प्राप्ति से हम अपनी हेठी समझ-समझ कर बेचैन हो रहे हैं, वह हमारे दुःख में सहानुभूति न करे और उस वस्तु के लिए आनंद से कान में तेल डाले बैठा रहे। प्रायः तो ऐसा होता है कि किसी वस्तु को प्राप्त करनेवाले मनुष्य को पहले यह ख्याल भी नहीं होता कि उसकी प्राप्ति से किन-किन महाशयों की मानहानि हो रही है।

ऊपर कहा जा चुका है कि ईर्ष्या धारण करनेवालों की दो दशाएँ होती हैं, असम्पन्न और सम्पन्न। असम्पन्न दशा का दिग्दर्शन तो ऊपर

हो चुका। सम्पन्न दशा वह है जिसमें जो वस्तु हमें प्राप्त है उसे दूसरे को भी प्राप्त करते देख हमें दुःख होता है। असंपन्नता में दूसरे को अपने से बढ़कर होते देख दुःख होता है। सम्पन्न दशा में दूसरे को अपने बराबर होते दुःख होता है। असम्पन्न दशा में यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि हम दूसरे से घटकर न रहें, बराबर रहें और सम्पन्न दशा में यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि हम दूसरे से बढ़कर रहें, उसके बराबर न रहें। सम्पन्न की ईर्ष्या में आकांक्षा बढ़ी-चढ़ी होती है, इससे उसका अनौचित्य भी बढ़कर होता है। असम्पन्न ईर्ष्यावाला केवल अपने को नीचा समझे जाने से बचाने के लिए आकुल रहता है, पर सम्पन्न ईर्ष्यावाला दूसरे को नीचा समझते रहने के लिए आकुल रहता है। असम्पन्न की ईर्ष्या में नैराश्य का भाव और अपनी कमी का दुःख मिला रहता है, इससे उसकी कलुषता उतनी गहरी नहीं जान पड़ती। निराश और अभाव-पीड़ित मनुष्य जैसे इधर-उधर भूलता भटकता फिरता है वैसे ही ईर्ष्या का राह में भी जा पड़ता है। पर सम्पन्न ईर्ष्यालु की स्थिति ऐसी क्षोभकारिणी नहीं होती।

हमारा कोई साथी है जो किसी वस्तु में हमसे कम है। उसकी कमी और अपनी बड़ाई देख-दिखाकर हर घड़ी प्रसन्न होने का हमें दुर्व्यसन हो गया है। इसी बीच उसको भी वह वस्तु प्राप्त हो जाती है और हमें जान पड़ता है कि हमारी स्थिति, जो सापेक्ष थी, मारी गई। अपने आनन्द में इस प्रकार बाधा पड़ते देख हम अपने साथी की उस प्राप्ति से दुखी होते हैं और मन ही मन उस पर कुढ़ते भी हैं। साथी को बहुत दिनों तक तो इसका पता ही नहीं चलता, पीछे पता चलने पर भी वह हमारे इस दुःख में कुछ भी सहानुभूति नहीं करता। हमारी कुप्रवृत्ति का कारण बिना अवसर के हर घड़ी बड़ाई का अनुभव वा स्थिति की सापेक्षिकता का सुख भोगने की लत है। किसी स्थिति की वास्तविकता पर मुख्य और सापेक्षिकता पर गौण दृष्टि रखनी चाहिए। सापेक्षिकता नजर का खेल है, और कुछ नहीं। यदि हमें पेट भर अन्न नहीं मिलता है, पर लोग समझते हैं कि हम अपने किसी साथी से

अच्छे या धनी हैं तो लोगों की इस धारणा से हमारा पेट नहीं भर सकता। लोगों की इस धारणा से आनन्द होता है पर वह उस आनन्द का शतांश भी नहीं है जो वास्तविक स्थिति में प्राप्त वस्तुओं से मिलता है। अतः स्थिति के वास्तविक आनन्दों को छोड़ इस छाया-रूपी आनन्द पर मुख्य रूप से ध्यान रखना प्रमाद और स्थिति की रक्षा का बाधक है। यदि हम वास्तविक दशा की ओर ध्यान रख आवश्यक प्रयत्न न करते रहेंगे तो अपनी सँभाल नहीं कर सकते।

कभी-कभी ऐसा होता है कि लोगों की धारणा का कुछ मूल्य होता है, अर्थात् उससे कोई अनुकूल स्थिति प्राप्त होती है। जैसे, यदि किसी गाँव में मूर्ख और विद्वान् दो वैद्य हैं तो लोग दूसरे को अधिक निपुण समझ उसके पास अधिक जायँगे और उसकी आमदनी अधिक होगी। अब यदि पहला वैद्य भी परिश्रम करके वैद्यक पढ़ लेगा और लोगों की यह धारणा हो जायगी कि यह भी विद्वान् है तो उस दूसरे वैद्य की आमदनी कम हो जायगी। ऐसी अवस्था में उस दूसरे वैद्य का पहले वैद्य की उन्नति से कुढ़ना शुद्ध ईर्ष्या नहीं, हानि का दुःख या झुँझलाहट है। ईर्ष्या निःस्वार्थ होनी चाहिए।

ईर्ष्या का दुःख प्रायः निष्फल हो जाता है। अधिकतर तो जिस बात की ईर्ष्या होती है, वह ऐसी बात होती है जिस पर हमारा वश नहीं होता। जब हम में अपनी ही स्थिति में अनुकूल परिवर्तन करने की सामर्थ्य नहीं है तब हम दूसरे की स्थिति में कहाँ तक परिवर्तन कर सकते हैं? जितनी जानकारी हमें अपनी स्थिति से हो सकती है उतनी दूसरे की स्थिति से नहीं। किसी स्थिति में परिवर्तन करने के लिए उसके अंग-प्रत्यंग का परिचय आवश्यक होता है। पर कभी-कभी ऐसे अवसर आ जाते हैं जिनमें ईर्ष्या की तुष्टि का साधन सुगम होता है, जैसे यदि किसी आदमी को किसी दूसरे से कुछ लाभ पहुँचनेवाला होता है या पहुँचता होता है तो हम उस दूसरे से उसकी कुछ बुराई कर आते हैं और उसे उस लाभ से

वंचित कर देते हैं। पर हमारी यह सफलता निरापद नहीं। यदि वंचित व्यक्ति को हमारी कार्रवाई का पता लग गया तो वह क्रुद्ध होकर हमारी हानि करने के लिए हमसे अधिक वेग के साथ यत्न करेगा। हमने तो केवल जरा सा जाकर जबान हिलाने का कष्ट उठाया था, पर वह हमारी हानि करने के लिए पूरा परिश्रम करेगा।

ईर्ष्या में प्रयत्नोत्पादिनी शक्ति बहुत कम होती है। उसमें वह वेग नहीं होता जो क्रोध आदि में होता है क्योंकि आलस्य और नैराश्य के आश्रय से तो उसकी उत्पत्ति ही होती है। जब आलस्य और नैराश्य के कारण अपनी उन्नति के हेतु प्रयत्न करना तो दूर रहा हम अपनी उन्नति का ध्यान तक अपने मन में नहीं ला सकते, तभी हम हारकर दूसरे की स्थिति की ओर बार-बार देखते हैं और सोचते हैं कि यदि उसकी स्थिति ऐसी न होती तो हमारी स्थिति जैसी है वैसी ही रहने पर भी बुरी न दिखाई देती। अपनी स्थिति को ज्यों की त्यों रख सापेक्षिकता द्वारा सन्तोषलाभ करने का ढीला यत्न आलस्य और नैराश्य नहीं तो और क्या है? जो वस्तु उज्ज्वल नहीं है उसे मैली वस्तु के पास रखकर हम उसकी उज्ज्वलता से कबतक और कहाँ तक सन्तोष कर सकते हैं? जो अपनी उन्नति के प्रयत्न में बराबर लगा रहता है उसे न तो नैराश्य होता है और न हर घड़ी दूसरे की स्थिति के मिलान करते रहने की फुरसत। ईर्ष्या की सबसे अच्छी दवा है उद्योग और आशा। जिस वस्तु के लिए उद्योग और आशा निष्फल हो उस पर से अपना ध्यान हटाकर सृष्टि की अनन्तता से लाभ उठाना चाहिए।

जिससे ईर्ष्या की जाती है उस पर उस ईर्ष्या का क्या प्रभाव पड़ता है यह भी देख लेना चाहिए। ईर्ष्या अप्रेष्य मनोविकार है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि किसी मनुष्य को अपने से ईर्ष्या करते देख हम भी बदले में उससे ईर्ष्या नहीं करने लगते। दूसरे को ईर्ष्या करते देख हम उससे घृणा करते हैं। दूसरे की ईर्ष्या का फल भोग कर हम उस पर क्रोध करते हैं, जिसमें अधिक अनिष्टकारिणी शक्ति होती है। अतः ईर्ष्या एक ऐसी बुराई

है जिसका बदला यदि मिलता है तो कुछ अधिक ही मिलता है। इससे इस बात का आभास मिलता है कि प्रकृति के कानून में ईर्ष्या एक पाप या जुर्म है। अपराधी ने अपने अपराध से जितना कष्ट दूसरे को पहुँचाया, अपराधी को भी केवल उतना ही कष्ट पहुँचाना सामाजिक न्याय नहीं है, अधिक कष्ट पहुँचाना न्याय है, क्योंकि निरपराध व्यक्ति की स्थिति को अपराधी की स्थिति से अच्छा दिखलाना न्याय का काम है।

ईर्ष्या अत्यन्त लज्जावती वृत्ति है। वह अपने धारणकर्ता स्वामी के सामने भी मुँह खोलकर नहीं आती। उसके रूप आदि का पूरा परिचय न पाकर भी धारणकर्ता उसको हरम की बेगमों से अधिक परदा करता है। वह कभी प्रत्यक्ष रूप में समाज के सामने नहीं आती। उसका कोई बाहरी लक्षण धारणकर्ता पर नहीं दिखाई देता। क्रोध में आँखें लाल हों, भय में आकुलता हो, घृणा में नाक-भौं सुकुड़े, करुणा में आँसू आएँ पर ईर्ष्या में शायद ही कभी असावधानी से ठंडी साँस निकल जाय तो निकल जाय। ईर्ष्या इतनी कुत्सित वृत्ति है कि सभा-समाज में, मित्र-मंडली में, परिवार में, एकान्त कोठरी में, कहीं भी स्वीकार नहीं की जाती। लोग अपना क्रोध स्वीकार करते हैं, भय स्वीकार करते हैं, घृणा स्वीकार करते हैं, लोभ स्वीकार करते हैं, पर ईर्ष्या का नाम कभी मुँह पर नहीं लाते, ईर्ष्या से उत्पन्न अपने कार्यों को दूसरी मनोवृत्तियों के सिर मढ़ते हैं। यदि हमें ईर्ष्या के कारण किसी की प्रशंसा अच्छी नहीं लग रही है तो हम बड़ी गम्भीरता और सज्जनता प्रकट करते हुए उसके दोषों और त्रुटियों का निदर्शन करते हैं। वैर ऐसी बुरी वृत्ति तक कभी-कभी ईर्ष्या को छिपाने का काम दे जाती है।

मजदूरी और प्रेम

सरदार पूर्णसिंह

हल चलानेवाले का जीवन

हल चलाने और भेड़ चरानेवाले प्रायः स्वभाव से ही साधु होते हैं। हल चलानेवाले अपने शरीर का हवन किया करते हैं। खेत उनकी हवन-शाला है। उनके हवनकुण्ड की ज्वाला की किरणें चावल के लम्बे और सफेद दानों के रूप में निकलती हैं। गेहूँ के लाल-लाल दाने इस अग्नि की चिनगारियों की डालियाँ सी है। किसान मुझे अन्न में, फूल में, फल में, आहुति हुआ सा दिखाई देता है। कहते हैं, ब्रह्माहुति से जगत् पैदा हुआ है। अन्न पैदा करने में किसान भी ब्रह्मा के समान है। खेती उसके ईश्वरी प्रेम का केन्द्र है। उसका सारा जीवन पत्ते-पत्ते में, फूल-फूल में, फल-फल में बिखर रहा है। वृक्षों की तरह उसका भी जीवन एक तरह का मौन जीवन है। वायु, जल, पृथ्वी, तेज और आकाश की निरोगता इसी के हिस्से में है। विद्या यह नहीं पढ़ा, जप और तप यह नहीं करता, संध्या-वंदनादि इसे नहीं आते, ज्ञान, ध्यान का इसे पता नहीं, मसजिद, बुर्ज, मंदिर से इसे सरोकार नहीं, केवल साग-पात खाकर ही यह अपनी भूख निवारण कर लेता है। ठंढे चश्मे और बहती हुई नदियों के शीतल जल से यह अपनी प्यास बुझा लेता है। प्रातःकाल उठकर

यह अपने हल बैलों को नमस्कार करता है और हल जोतने चल देता है। दोपहर की धूप इसे भाती है। इसके बच्चे मिट्टी ही में खेल-खेलकर बड़े हो जाते हैं। इसको और इसके परिवार को बैल और गौवों से प्रेम है। उनकी यह सेवा करता है। पानी बरसानेवाले के दर्शनार्थ इसकी आँखें नीले आकाश की ओर उठती हैं। नयनों की भाषा में यह प्रार्थना करता है। सायं और प्रातः, दिन और रात, विधाता इसके हृदय में अचिंतनीय और अद्‌भुत आध्यात्मिक भावों की वृष्टि करता है। यदि कोई इसके घर आ जाता है तो यह उसको मृदु वचन, मीठे जल और अन्न से तृप्त करता है। धोखा यह किसी को नहीं देता। यदि इसको कोई धोखा दे भी दे तो उसका इसे ज्ञान नहीं होता, क्योंकि इसकी खेती हरी-भरी है, गाय इसकी दूध देती है, स्त्री इसकी आज्ञाकारिणी है, मकान इसका पुण्य और आनन्द का स्थान है। पशुओं का चराना, नहलाना, खिलाना, पिलाना, उनके बच्चों की अपने बच्चों की तरह सेवा करना, खुले आकाश के नीचे उनके साथ रातें गुजार देना क्या स्वाध्याय से कम हैं? दया, वीरता और प्रेम जैसा इन किसानों में देखा जाता है, अन्यत्र मिलने का नहीं। गुरु नानक ने ठीक कहा है—"भोले भाव मिलें रघुराई।' भोले-भाले किसानों को ईश्वर अपने खुले दीदार का दर्शन देता है। उनकी फूस की छतों में से सूर्य और चन्द्रमा छन-छनकर उनके बिस्तरों पर पड़ते हैं। ये प्रकृति के जवान साधु हैं। जब कभी मैं इन बेमुकुट के गोपालों का दर्शन करता हूँ, मेरा सिर स्वयं ही झुक जाता है। जब मुझे किसी फकीर के दर्शन होते हैं तब मुझे मालूम होता है कि नंगे सिर, नंगे पाँव, एक टोपी सिर पर, एक लँगोटी कमर में, एक काली कमली कँधे पर, एक लंबी लाठी हाथ में लिए हुए गौवों का मित्र, बैलों का हमजोली, पक्षियों का महराज, राजाओं का अन्नदाता, बादशाहों को ताज पहनाने और सिंहास[illegible] बिठानेवाला, भूखों और नंगों का पालनेवाला, समाज के पुष्पोद्यान का माली और खेतों का वाली जो रहा है।

गड़रिए का जीवन

एक बार मैंने एक बुड्ढे गड़रिए को देखा। घना जंगल है। हरे-हरे वृक्षों के नीचे उसकी सुफेद ऊनवाली भेड़ें अपना मुँह नीचा किए हुए कोमल-कोमल पत्तियाँ खा रही हैं। गड़रिया बैठा आकाश की ओर देख रहा है। ऊन कातता जाता है। उसकी आँखों में प्रेम-लाली छाई हुई है। परन्तु उसके कपोलों से लाली फूट रही है। बरफानी देशों में वह मानों विष्णु के समान क्षीरसागर में लेटा है। उसकी प्यारी स्त्री उसके पास रोटी पका रही है। मकान इनका बेमकान है, घर इनका बेघर है, ये लोग बेनाम और बेपता हैं।

इस दिव्य परिवार को कुटी की जरूरत नहीं। जहाँ जाते हैं, एक घास की झोपड़ी बना लेते हैं। दिन को सूर्य और रात को तारागण इनके सखा हैं।

गड़रिए की कन्या पर्वत के शिखर के ऊपर खड़ी सूर्य्य का अस्त होना देख रहो है। उसको सुनहली किरणें इसके लावण्यमय मुख पर पड़ रही हैं। यह सूर्य्य को देख रही है और वह इसको देख रहा है!

बोलता कोई भी नहीं। सूर्य्य उसको युवावस्था की पवित्रता पर मुग्ध है और वह आश्चर्य के अवतार सूर्य्य की महिमा के तूफान में पड़ी नाच रही है।

भेड़ों की सेवा ही इनकी पूजा है। जरा एक भेड़ बीमार हुई, सब परिवार पर विपत्ति आई। दिन रात उसके पास बैठे काट देते हैं। उसे अधिक पीड़ा हुई तो इन सब की आँखें शून्य आकाश में किसी को देखते-देखते गल गईं। पता नहीं, ये किसे बुलाती हैं। हाथ जोड़ने तक की फुरसत नहीं। पर, हाँ, इन सबकी आँखें किसी के आगे शब्दरहित, स्वरहित मौन प्रार्थना में खुली हैं। दो रातें इसी तरह गुजर गईं। इनकी भेड़ अब अच्छी है। इनके घर मंगल हो रहा है। सारा परिवार मिलकर गा रहा है। इतने से नीले आकाश पर बादल घिर आए और

झम-झम बरसने लगे। मानों प्रकृति के देवता भी इनके आनन्द से आनन्दित हुए। बूढ़ा गड़रिया आनन्द-मत्त होकर नाचने लगा। पिता को ऐसा खुशी देखकर दोनों कन्याओं ने एक दूसरे का हाथ पकड़कर पहाड़ी राग अलापना आरंभ कर दिया। साथ ही धम-धम थम-थम नाच की उन्होंने धूम मचा दी। मेरी आँखों के सामने ब्रह्मानन्द का समाँ बाँध दिया। मेरे पास मेरा भाई खड़ा थाँ। मैंने उससे कहा—"भाई, अब मुझे भी भेड़ें ले दो।" ऐसे ही मूक जीवन से मेरा कल्याण होगा। विद्या को भूल जाऊँ तो अच्छा है। मेरी पुस्तकें खो जावें तो उत्तम है। ऐसा होने से कदाचित् इस वनवासी परिवार की तरह मेरे दिल के नेत्र खुल जायँ और मैं ईश्वरीय झलक देख सकूँ। चन्द्र और सूर्य्य की विस्तृत ज्योति में जो वेदगान हो रहा है उसे इस गड़रिए की कन्याओं की तरह मैं सुन तो सकूँ, परन्तु कदाचित् प्रत्यक्ष देख सकूँ। कहते हैं, ऋषियों ने भी, इनको देखा ही था, सुना न था। पण्डितों की ऊटपटाँग बातों से मेरा जी उकता गया है। प्रकृति की मंद-मंद हँसी में ये अनपढ़ लोग ईश्वर के हँसते हुए ओंठ देख रहे हैं। पशुओं के अज्ञान में गंभीर ज्ञान छिपा हुआ है। इन लोगों के जीवन में अद्भुत आत्मानुभव भरा हुआ है। गड़रिए के परिवार की प्रेम मजदूरी का मूल्य कौन दे सकता है ?

मजदूर की मजदूरी

आपने चार आने पैसे मजदूर के हाथ में रख कर कहा—"यह लो दिनभर की अपनी मजदूरी"। वाह क्या दिल्लगी है! हाथ, पाँव, सिर, आँखें इत्यादि सब के सब अवयव उसने आपको अर्पण कर दिए। ये सब चीजें उसकी तो थीं ही नहीं, ये तो ईश्वरीय पदार्थ थे। जो पैसे आपने उसको दिए वे भी आपके न थे। वे तो पृथिवी से निकली हुई [illegible] टुकड़े थे, अतएव ईश्वर के निर्मित थे। मजदूरी का ऋण तो परस्पर का प्रेम-सेवा से चुकता होता है, अन्न-धन देने से नहीं। वे तो दोनों ही ईश्वर

के हैं। अन्न-धन वही बनाता है और जल भी वही देता है। एक जिल्द-साज ने मेरी एक पुस्तक की जिल्द बाँध दी। मैं तो इस मजदूर को कुछ भी न दे सका। परन्तु उसने मेरी उम्र भर के लिए एक विचित्र वस्तु मुझे दे डाली। जब कभी मैंने उस पुस्तक को उठाया, मेरे हाथ जिल्द-साज के हाथ पर जा पड़े। पुस्तक देखते ही मुझे जिल्दसाज याद आ जाता है। वह मेरा आमरण मित्र हो गया है, पुस्तक हाथ में होते ही मेरे अंतःकरण में रोज भरतमिलाप का सा समाँ बँध जाता है।

गाढ़े की एक कमीज को एक अनाथ विधवा सारी रात बैठकर सीती है, साथ ही साथ वह अपने दुख पर रोती भी है—दिन को खाना न मिला। रात को कुछ मयस्सर न हुआ। अब वह एक-एक टाँके पर आशा करती है कि कमीज कल तैयार हो जायगी, तब कुछ तो खाने को मिलेगा। जब वह थक जाती है तब ठहर जाती है। सुई हाथ में लिए हुए है, कमीज घुटने पर बिछी हुई है, उसकी आँखों की दशा उस आकाश की जैसी है जिसमें बादल बरसकर अभी-अभी बिखर गये हैं। खुली आँखें ईश्वर के ध्यान में लीन हो रही हैं। कुछ काल के उपरांत "हे राम" कहकर उसने फिर सीना शुरू कर दिया। इस माता और इस बहन की सिली हुई कमीज मेरे लिए मेरे शरीर का नहीं—मेरी आत्मा का वस्त्र है। इसका पहनना मेरी तीर्थ-यात्रा है। इस कमीज में उस विधवा के सुख-दुःख, प्रेम और पवित्रता के मिश्रण से मिली हुई जीवन-रूपिणी गंगा की बाढ़ चली जा रही है। ऐसी मजदूरी और ऐसा काम—प्रार्थना, संध्या और नमाज से क्या कम है? शब्दों से तो प्रार्थना हुआ नहीं करती। ईश्वर तो कुछ ऐसी ही मूक प्रार्थनाएँ सुनता है और तत्काल सुनता है।

मुझे तो मनुष्य के हाथ से बने हुए कामों में उनकी प्रेममय पवित्र आत्मा की सुगंध आती है। राफल आदि के चरित्र चित्रों में उनकी

कला-कुशलता को देख, इतनी सदियों के बाद भी, उनके अंतःकरण के सारे भावों का अनुभव होने लगता है। केवल चित्र का ही दर्शन नहीं, किन्तु, साथ ही, उसमें छिपी हुई चित्रकार की आत्मा तक के दर्शन हो जाते हैं। परन्तु यन्त्रों की सहायता से बने हुए फोटो निर्जीव से प्रतीत होते हैं। उनमें और हाथ के चित्रों में उतना ही भेद है जितना की बस्ती और श्मशान में।

हाथ की मेहनत से चीज में जो रस भर जाता है, वह भला लोहे के द्वारा बनाई हुई चीज में कहाँ! जिस आलू को मैं स्वयं बोता हूँ, मैं स्वयं पानी देता हूँ, जिसके इर्द-गिर्द की घास-पात खोद कर मैं साफ करता हूँ उस आलू में जो रस मुझे आता है वह टीन में बंद किए हुए अचार मुरब्बे में नहीं आता। मेरा विश्वास है कि जिस चीज में मनुष्य के प्यारे हाथ लगते हैं, उसमें उसके हृदय का प्रेम और मन की पवित्रता सूक्ष्म रूप से मिल जाती है और उसमें मुर्दे को जिंदा करने की शक्ति आ जाती है। होटल में बने हुए भोजन यहाँ नीरस होते हैं, क्योंकि वहाँ मनुष्य मशीन बना दिया जाता है। परन्तु अपनी प्रियतमा के हाथ से बने हुए रूखे-सूखे भोजन में कितना रस होता है। जिस मिट्टी के घड़े को कन्धों पर उठाकर, मीलों दूर से उसमें मेरी प्रेममग्न प्रियतमा ठंडा जल भर लाती है, उस लाल घड़े का जल जब मैं पीता हूँ तब जल क्या पीता हूँ, अपनी प्रेयसी के प्रेमामृत को पान करता हूँ। जो ऐसा प्रेम-प्याला पीता हो उसके लिए शराब क्या वस्तु है? प्रेम से जीवन सदा गद्‌गद रहता है। मैं अपनी प्रेयसी की ऐसी प्रेम-भरी, रस भरी, दिल-भरी सेवा का बदला क्या कभी दे सकता हूँ?

उधर प्रभात ने अपनी सुफेद किरणों से अँधेरी रात पर सुफेदी सी छिटकाई, इधर मेरी प्रेयसी, मैना अथवा कोयल की तरह, अपने बिस्तर से उठी। गाय का बछड़ा खोला, दूध की धारों से अपना कटोरा भर लिया। गाते-गाते अन्न को अपने हाथों से पीसकर सुफेद आटा बना

लिया। इस सुफेद आटे से भरी हुई छोटी सी टोकरी सिर पर, एक हाथ में दूध से भरा हुआ लाल मिट्टी का कटोरा, दूसरे हाथ में मक्खन की हाँड़ी। जब मेरी प्रिया घर की छत के नीचे इस तरह खड़ी होती है तब वह छत के ऊपर की श्वेत प्रभा से भी अधिक आनन्ददायक, बलदायक, बुद्धिदायक जान पड़ती है। उस समय वह उस प्रभा से भी अधिक रसीली, अधिक रँगीली, जीती-जागती, चैतन्य और आनन्दमयी प्रातःकालीन शोभा सी लगती है। मेरे गुरु ने इसी प्रेम से संयम करने का नाम योग रखा है। मेरा यही योग है।

मजदूरी और कला

आदमियों की तिजारत करना मूर्खों का काम है। सोने और लोहे के बदले मनुष्य को बेचना मना है। आजकल भाप की कलों का दाम तो हजारों रुपया है, परन्तु मनुष्य कौड़ी के सौ-सौ बिकते हैं। सोने और चाँदी की प्राप्ति से जीवन का आनन्द नहीं मिल सकता। सच्चा आनन्द तो मुझे मेरे काम से मिलता है। मुझे अपना काम मिल जाय तो फिर स्वर्गप्राप्ति की इच्छा नहीं; मनुष्य-पूजा ही सच्ची ईश्वर-पूजा है। मंदिर और गिरजे में क्या रक्खा है? ईंट, पत्थर, चूना कुछ ही कहो—आज से हम अपने ईश्वर की तलाश मंदिर, मसजिद, गिरजा और पोथी में न करेंगे। अब तो यही इरादा है कि मनुष्य की अनमोल आत्मा में ईश्वर के दर्शन करेंगे। यही आर्ट है—यही धर्म है।

निकम्मे रहकर मनुष्यों की चिंतन-शक्ति थक गई है। बिस्तरों और आसनों पर सोते और बैठे मन के घोड़े हार गए हैं। सारा जीवन निचुड़ चुका है। स्वप्न पुराने हो चुके हैं। आजकल की कविता में नयापन नहीं। अब तो एक नए प्रकार का कला-कौशल-पूर्ण संगीत साहित्य संसार में प्रचलित होने वाला है। यदि वह न प्रचलित हुआ तो मशीनों के पहियों के नीचे दबकर हमें मरा समझिये। यह नया साहित्य मजदूरों के हृदय से निकलेगा। उन मजदूरों के कंठ से यह नई कविता निकलेगी जो अपना